

स्वामी विवेकानन्द जयन्ती-12 जनवरी 2012

अ प नी बा त

स्वामी विवेकानन्द एवं युवा भारत—यह एक विरोधाभास ही कहा जायेगा कि संसार के प्राचीनतम देशों में से एक भारत विश्व का सबसे युवा देश बनकर उभरा है। भारत की 70% से भी अधिक जनसंख्या 40 वर्ष से आयु के युवाओं की है एवं 25 वर्ष से कम आयु के नवयुवक देश की आबादी का आधा माग हैं। देश में युवाओं की एक लहर चल रही है एवं वे प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये बेचैन हैं। राजनीति जैसा क्षेत्र जहां पहिले वयोवृद्ध लोगों का एकाधिकार समझा जाता था उस किले में भी युवक सेंध लगा रहे हैं। समय की मांग को देखते हुए प्रत्येक राजनैतिक दल ने अपने युवा विंग तैयार कर लिये हैं एवं बहुत समय से पदों पर जमे हुए वृद्धों को अपनी कुर्सी हिलती हुई लग रही हैं। यह युवा लहर केवल राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है अपितु खेल संघों, सामाजिक संगठनों एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में युवा पीढ़ी दस्तक दे रही है। इन युवाओं की धमक देश में नहीं विदेशों तक में सुनाई पड़ रही है। इन्जीनियरिंग, आई.टी, मेडिकल इत्यादि क्षेत्रों में भारतीय, युवक युवतियां अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी देशों में छाये हुए हैं।

भारत में दो युवा विभूतियों ऐसी हुई हैं जिन्होंने भारत के इतिहास में अपना नाम स्वर्गाक्षरों में लिखाया है। उन्होंने अपने अल्प जीवन काल में ही इतना कुछ कर दिखाया जितना साधारण व्यक्ति एक या दो संपूर्ण जीवन में भी करने की कल्पना नहीं कर सकता। इनके नाम हैं आदि शंकराचार्य एवं स्वामी विवेकानन्द। शंकराचार्य का जन्म सन् 788 में केरल में हुआ था एवं उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में सन्यास ग्रहण कर लिया था एक उनकी मृत्यु 32 वर्ष की आयु में हो गई थी। उस समय भारतवर्ष में वैदिक धर्म का हास हो रहा था एवं वेदों के प्रति अज्ञानता एवं अरुचि बढ़ रही थी। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण भारत में वैदिक धर्म का प्रचार किया। उन्होंने भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किये थे जो वेदों के अध्ययन एवं वैदिक धर्म के प्रचार के केन्द्र थे। वे सन्यास को गृहस्थ आश्रम से श्रेष्ठ मानते थे। काशी में मंडन मित्र से हुआ उनका शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। उपनिषद्, भगवद् गीता एवं ब्रह्म सूत्र पर लिखे गये उनके भाष्य

आज भी अपने विषयों के बेजोड़ ग्रन्थ माने जाते हैं। उनका कथन था कि उपनिषदों का सार तत्व अद्वैत ही है।

स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु भी 40 वर्ष से भी कम आयु में हो गई थी। उन्होंने 23 वर्ष की आयु में सन्यास ले लिया था। सन्यास एवं स्वर्गारोहण के मध्य के 17 वर्ष के अल्पकाल में स्वामी जी ने चार बार लगभग सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया एवं दो बार सम्पूर्ण विश्व में घूमे। यह वह समय था जब आवागमन के साधन बहुत कम थे। वायुयानों का उपयोग प्रारम्भ नहीं हुआ था। इस समय अमेरिका 16-18 घंटे में पहुंचा जा सकता है किन्तु स्वामी विवेकानन्द की अमेरिका यात्रा तीन माह से भी अधिक में पूर्ण हो सकी थी। स्वयं भारतवर्ष में भी रेल सेवायें बहुत कम थीं। बड़े-बड़े नगर भी रेलवे लाइनों से जुड़े हुए नहीं हैं। उदाहरण के लिये नागपुर से रायपुर—जो अब छत्तीसगढ़ की राजधानी है—पहुंचने का एक मात्र साधन बैलगाड़ी था एवं यह यात्रा 15 दिन में पूर्ण हो पाती थी।

(1)

स्वामी जी एक उच्च कोटि के लेखक, वक्ता एवं कवि थे। अंग्रेजी तथा बंगला में वे धारा प्रवाह बोल एवं लिख सकते थे। बंगला एवं अंग्रेजी दोनों ही में उनकी लिखी हुई कविताएँ अत्यंत उत्तम श्रेणी की हैं। 11 सितम्बर 1893 को शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन के समक्ष दिये गये 3 मिनट के उनके अंग्रेजी भाषण ने उन्हें रातों रात पश्चिमी जगत में एक आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में स्थापित कर दिया था। उसके पश्चात् 3 वर्षों तक अमेरिका, इंग्लैंड एवं यूरोप में उन्होंने अनेक भाषण दिये एवं उन्हें सुनने के लिये हजारों की भीड़ इकट्ठा होती थी एवं समाचार पत्रों के प्रथम पृष्ठ पर उन्हें स्थान मिलता था। स्वामी जी के लेखों, भाषणों, वार्ताओं इत्यादि का जो संग्रह प्रकाशित हुआ है वह दस भागों में है एवं प्रत्येक भाग में पांच सौ से अधिक पृष्ठ हैं।

इसी अवधि में स्वामी जी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसकी शाखाएँ देश विदेश में खोली गईं। रामकृष्ण मिशन वेदान्त एवं आध्यात्मिकता का प्रचार करने के अतिरिक्त शिक्षा, स्वास्थ्य रोजगार परक प्रशिक्षण इत्यादि अनेक क्षेत्रों में कार्य कर रहा है एवं एक उत्कृष्ट कोटि के स्वयं सेवी संगठन के रूप में प्रसिद्ध है।

स्वामी जी ने सन्यास को एक नया रूप एवं नई परिभाषा दी। उस समय के सन्यासी एकांत में आत्म साधना में तल्लीन रहते थे। उनके जीवन का लक्ष्य स्वयं के लिये मोक्ष प्राप्त करना होता था। जन साधारण के सुख दुख से उन्हें कोई सरोकार नहीं था। स्वामी जी ने इस विचार का विरोध किया। उनका कहना था कि ईश्वर प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति का सर्वोत्तम मार्ग निर्धनों एवं दीन दुखियों की सेवा है। प्रत्येक प्राणी

में एक ही आत्मा निवास करती है एवं उसकी सेवा ईश्वर की पूजा के समान है। राम कृष्ण मिशन एवं भारत विकास परिषद् भी इसी विचार को मूर्त रूप देने में लगे हुए हैं।

एक युवा कितना कर्मठ हो सकता एवं अल्प समय में कितना कुछ कर सकता है स्वामी जी का जीवन इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। इसके अतिरिक्त एक और संदेश हमारे युवा उनसे ग्रहण कर सकते हैं। स्वामी जी ने पाश्चात्य जगत को अत्यंत निकट से देखा एक गहराई से समझा। वे पश्चिम की चकाचौंध से प्रभावित नहीं हुए। उनका विचार था कि भारत को अपना अध्यात्म एवं धार्मिक आस्था नहीं खोनी चाहिए। निश्चय रूप से भारत को पश्चिम की टेक्नोलौजी एवं विज्ञान की आवश्यकता है किन्तु भारतीय नैतिक मूल्य एवं आस्था भी शाश्वत हैं। उनका ह्रास नहीं होना चाहिए।

हमारे युवा पाश्चात्य चमक दमक से भ्रमित हो जाते हैं। उन्हें स्वामी विवेकानन्द के आदर्श एवं विचार इधर-उधर भटकने से रोक सकेंगे ऐसी आशा करनी चाहिए।



IT IS THE YOUTH WHO WILL TRANSFORM THIS NATION

- Swami Vivekanand

My faith is in the younger generation, the modern generation, out of them will come my workers. They will work out the whole problem, like lions. I have formulated the idea and have given my life to it. If I do not achieve success, some better one will come after me to work it out, and I shall be content to struggle.

X X X X

My hope of the future lies in the youth of character - intelligent, renouncing all for the service of others, and obedient-who can sacrifice their lives in working out my ideas and thereby do good to themselves and the country at large.

Editor's Reflections

You Also Can Be An Excellent Speaker

Swami Vivekanand became an international celebrity after delivering a three minute extempore speech at Chicago World Religions Parliament. Everybody cannot be an orator like Swami Ji but most of us can become good speakers and can develop the skill to influence and convince people by a little practice. Here are some tips, which, if followed properly, will help you in becoming a forceful and dynamic speaker.

(2)

Preparing the Speech-As soon as you get an invitation to make a speech or you apprehend that the meeting or conference you are going to attend may provide an opportunity to speak something or you may be requested by others to make a short speech on some topic you must start preparing for the occasion. In the former case the topic will be given to you and it is your duty to prepare the subject well. When preparing the speech try to stay as close to your topic as you can. Collect the material from all possible sources, books, magazines, research papers and organize the material. A brief outline may be prepared and the full speech may be written but never try to cram the speech verbatim. You are sure to forget it when speaking.

Instead of cramming, keep in mind only those thoughts which you basically want to say. You also need to remember the essential and the key words and the phrases to activate the subject in your mind.

If you are not sure of the topic get as much information about the meeting or conference. You may contact the organizers to know the topic on which you are expected to speak. You may also try to imagine which topic or topics may suit the occasion and prepare the speech accordingly.

The Beginning, Middle and End-Every speech, whether long

or short has the above three elements.

How best to introduce your speech is one of the basic factors which will make you a good speaker. Before starting a speech you must be confident that you are going to win. Do not start the speech passively. The start should be lively and energetic. In the beginning you may give an outline of the ideas you are going to present. Always remember that the manner in which you start your speech is of paramount importance.

Also keep the introduction short. Most people after learning about the main topic want to hear other important things about the same. The main body of the speech should be clear and transparent. Most of the audience come to listen to the speaker with the thought that they would get some new ideas which would be beneficial to them in some way. It is, therefore, very important that your speech should be prepared with utmost care devoid of irrelevant things.

If you are a new speaker you may believe in using big words to impress your audience. But people will very soon know your trick and will never appreciate the terminology.

When delivering the main part of the speech avoid fumbling for words. It happens when the speaker does not make adequate preparation or is not confident of himself. When delivering the main part of the speech keep away from the following.

Do not indulge in excessive poetry reading during the speech. One or two couplets are alright but too much poetry will give the impression that you lack ideas.

Telling stories during a speech is disastrous. One or two anecdotes told occasionally are sufficient. Also do not tell too many jokes. Of course people like to laugh even during a serious speech but it is better to keep funny jokes away.

Don't ever try to explain things by referring to a dictionary.

Speech Delivery-Try hard to be genuine and natural when

speaking. It is necessary to keep your delivery lively. You need to change the tone of your voice lowering and raising when necessity arises. Avoid a flat and monotonous presentation.

If you wish you can speak at a faster speed than usual. Talking too much slowly will try the patience of the audience because they want to hear the next sentence quickly.

Make proper use of the body language. A gesture of hand, half-closed eyes, a clenched fist can turn a simple speech into a powerful delivery.

Some more tips for becoming an excellent speaker.

Get rid of Fears-Most new speakers feel some kind of fear in their minds before they actually deliver the speech. It could be the fear to face the audience or fear of forgetting the speech or fear of not being able to recall appropriate words while delivering the speech. Actually a little fear and respect for audience is good for your delivery for it helps you to focus on your speech. Also making several revisions of your written speech will not only help you remember it well but will also help you recall the most appropriate words at the right moment.

While you speak, you should look straight into the eyes of the audience so that they feel that you are directly talking to them.

Looking Good on the Stage-At times people are worried about their appearance on the stage. People don't care very much for your dress. But still you must be dressed decently but not flamboyantly. Your clothes should be appropriate for the occasion. For example if you are to speak in a gathering of saints, a western style suit along with a necktie will not suit the occasion. Your speech, the place, the audience and the weather, will determine your dress for the occasion.

Keeping an Appropriate Temper-In order to present your speech well you ought to be in good form and well composed, possessing a good temper. Some speakers come to the stage after they

are completely exhausted by pre-speaking activities. It is imperative that your sleep well the night before. As far as possible avoid eating a big meal before the speech delivery. It will keep you relaxed and physically energetic. Reach the venue well in time because late coming will spoil your mood as well as the mood of the organizers and the audience.

Rehearsing and Practicing-Rehearsing the final outline or the full draft of the speech would build confidence in you to face the audience. It may happen that even after rehearsing the speech well you may forget a few points during the actual delivery. If that ever happens, you should proceed with other points which you want to discuss during the speech. You may rehearse the entire speech before a willing friend or on a tape-recorder or before a mirror.

Power Presentation-These days many visual aids are available to make your speech more comprehensible and easy to understand for your audience. Make use of slides, pictures, maps etc. to explain the points and purpose of your speech.



THE INDIAN IDEAL OF WOMANHOOD IS PERSONIFIED IN SITA

- Swami Vivekanand

Sita is unique; all the Indian ideals of a perfected woman have grown out of that one life of Sita; and here she stands these thousands of years, commanding the worship of every man, woman, and child, throughout the length and breadth of the land of Aryavarta. There she will always be, this glorious Sita, purer than purity itself, all patience, and all suffering. She who suffered that life of suffering without a murmur, she the ever-chaste and ever-pure wife, she the ideal of the people, the ideal of the gods, the great Sita, our national God she must always remain.

Holy Wisdom

तत्त्व ज्ञान

Swami Vivekanand

I am neither the mind, nor the intellect, nor the ego,
nor the mind-stuff;
I am neither the body, nor the changes of the body;
I am neither the senses of hearing, taste, smell or sight,
I am Existence Absolute, Knowledge Absolute,
Bliss Absolute,
I am He, I am He. (Shivoham, Shivoham).



मैं ना मन हूँ, ना बुद्धि हूँ,
ना अहम हूँ, न ही मस्तिष्क हूँ।
मैं न शरीर हूँ, न शारीरिक परिवर्तन हूँ, एवं न
ही श्रवण, जिह्वा, नासिका, या नेत्र इत्यादि इंद्रिय हूँ।
मैं सम्पूर्ण अस्तित्व, सम्पूर्ण ज्ञान से पूर्ण आनन्द हूँ।
मैं वही हूँ, वही हूँ
(शिवोहम, शिवोहम)

अहिंसा की कसौटी है—ईर्ष्या का अभाव। मानव जाति का सच्चा प्रेमी वह है जो किसी के प्रति ईर्ष्या-भाव नहीं रखता। बहुधा देखा जाता है कि संसार में जो मनुष्य बड़े कहे जाते हैं, वे अकसर एक-दूसरे के प्रति केवल थोड़े से नाम, कीर्ति या चांदी के कुछ टुकड़ों के लिए ईर्ष्या करने लगते हैं। जब तक यह ईर्ष्या-भाव मन में रहता है तब तक अहिंसा-भाव में प्रतिष्ठित होना बहुत दूर की बात है।

स्वामी विवेकानन्द और हम

– सुरेन्द्र कुमार वधवा
राष्ट्रीय महामंत्री

जैसा कि सर्व विदित है 12 जनवरी 2013 को स्वामी विवेकानन्द की 150वीं जयन्ती मनाई जायेगी। भारत विकास परिषद् ने 12 जनवरी 2012 से 12 जनवरी 2013 तक शाखा, प्रान्त एवं केन्द्र स्तर पर अनेक कार्यक्रम आयोजित करने का निश्चय किया है। ये कार्यक्रम समस्त प्रांतों एवं शाखाओं को प्रेषित कर दिये गये हैं।

भारत विकास परिषद् की स्थापना सन् 1963 में हुई थी जो स्वामी जी का जन्म शताब्दी वर्ष था। परिषद् के संस्थापकों ने प्रारम्भ से ही यह निश्चय कर लिया था कि स्वामी जी इस संगठन के आदर्श पुरुष होंगे एवं उन्हीं के दिखलाये गये मार्ग का अनुसरण परिषद् सदैव करती रहेगी। यह उचित रहेगा यदि स्वामी जी के 149 वें जन्म दिन पर उन आदर्शों एवं निर्देशों का स्मरण कर लिया जाये जो उन्होंने प्रस्तुत किये थे।

स्वामी जी ने सन्यास को एक नई परिभाषा दी। उस समय तक सन्यास लेने का अर्थ अपने स्वयं के मोक्ष के लिये साधना करना होता था। सन्यासी संसार से विरक्त होकर आत्म केन्द्रित हो जाता था एवं मानव जाति के सुख दुख से उसे कोई मतलब नहीं रहता था। यह अपने मोक्ष के लिये ही ईश्वर के साक्षात्कार का प्रयत्न करता था। स्वामी जी को सन्यास का यह रूप स्वीकार नहीं था। उनका कथन था कि जब प्राणी मात्र में एक ही आत्मा निवास करती है तो प्रत्येक प्राणी परमात्मा का ही अंश है। अतः दुखी मानव की सेवा ही ईश्वर की सच्ची पूजा है। सन्यासी होने के बावजूद भी स्वामी जी ने अपना समस्त जीवन दुखियों का दुख दूर करने में लगाया।

परिषद् के संस्थापकों ने भी समाज के समृद्ध वर्गों को आत्म केन्द्रित पाया। वे अपने ही वैभव में डूबे रहते हैं एवं अपने दीन हीन दुखी भाइयों से कम ही सरोकार रखते हैं। उनकी इन मानसिकता को बदल कर उन्हें अपने बन्धुओं के प्रति संवेदनशील बनाना इसी को परिषद् ने अपना मिशन निर्धारित किया। नर सेवा-नारायण सेवा को आधार भूत सिद्धान्त मानते हुए परिषद् ने सेवा को ईश्वर पूजा के समान माना। स्वामी जी यह मानते थे कि सेवा संगठित रूप से की जानी चाहिये। इसी उद्देश्य से उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। परिषद् भी भारत की सर्वाधिक सुसंगठित संस्थाओं में एक है एवं हमारी शाखाओं की श्रृंखला उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक

फैली हुई है। शाखाओं के कार्यक्रम जहां क्षेत्रीयता के अनुसार भिन्न हैं वहां राष्ट्रीय प्रकल्पों में अभूतपूर्व एक रूपता है। परिषद् का यह स्वरूप भारत की विभिन्नता में एकता को दर्शाता करता है। स्वामी जी ने संपूर्ण भारत की यात्राओं में इसी एकता के दर्शन किये थे।

पाश्चात्य सभ्यता को स्वामी जी ने अत्यंत निकटता से देखा था एवं यह पाया था इस कि उस सभ्यता में बाह्य चमक दमक के पीछे एक खोखलापन है। भारत की निर्धनता एवं पिछड़े पन के बावजूद उन्हें अपने इतिहास, धर्म एवं परम्पराओं पर गर्व था। उन्होंने नवयुवकों को सन्देश दिया था कि वे अपने समृद्ध अतीत पर गर्व करें एवं पश्चिम के विज्ञान एवं टेक्नोलोजी को अपनाने के बावजूद अपनी मातृभूमि को पुण्यभूमि समझें। परिषद् के संस्कार आधारित जितने भी प्रकल्प हैं उनका आधार स्वदेश प्रेम को जागृत करना है। राष्ट्रीय समूह गान प्रतियोगिता, भारत को जानो, संस्कृत समूह गान प्रतियोगिता, गुरु वन्दन छात्र अभिनन्दन इत्यादि समस्त प्रकल्प किशोर वर्ग में अपने देश के प्रति प्रेम एवं अपने धर्म, परम्पराओं एवं संस्कृति के प्रति गर्व एवं गौरव का भाव जाग्रत करते हैं।

(5)

परिषद् ने सेवा के साथ संस्कार तथा समर्पण को जोड़ा है। स्वामी जी का आदर्श था कि प्रत्येक मानव में ईश्वर का निवास है अतः वह देवता के समान है। उसकी सेवा अपने में उच्चता का भाव लेकर नहीं की जानी चाहिये। ईश्वर की पूजा करते समय कोई भी अपने को श्रेष्ठ एवं अपने देवता को अपने से छोटा नहीं समझता। वह पूर्ण समर्पण भाव से पूजा करता है एवं पूजा स्वीकार होने पर देवता का कृतज्ञ होता है। सेवा करते समय हम सबमें भी यही भावना होनी चाहिये।

स्वामी जी की जयन्ती पर हमें उनके आदर्शों, विचारों तथा दर्शन को स्मरण करते हुए उनके द्वारा दिखलाये गये मार्ग पर चलने का निश्चय करना चाहिये।

मोक्ष प्राप्ति अवश्य ही एक सन्यासी का लक्ष्य है परन्तु मुझे मेरे गुरुदेव से यही आदर्श प्राप्त हुआ है कि भारतवर्ष की जनता की उन्नति की चेष्टा करना भी मोक्ष प्राप्ति का एक साधन है।

– स्वामी विवेकानन्द

भारतीय संस्कृति की रक्षा के हेतु नारी को लज्जा विहीन न किया जाए

भारतीयों के मन में 'स्त्री' शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो आता है और हमारे यहां ईश्वर को भी माँ कहा जाता है। पश्चिम में स्त्री पत्नी है, वहाँ पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रित है। किन्तु भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केन्द्रीभूत मानते हैं। पाश्चात्य देशों में गृह की स्वामिनी और शासिका पत्नी है, भारतीयों में घर की स्वामिनी और शासिका माता है। पाश्चात्य गृह में यदि माता हो भी, तो उसे पत्नी के अधीन रहना पड़ता है, क्योंकि घर पत्नी का है। हमारे घरों में माता सदैव रहती है। माता का रूप तपस्वनी एवं ओजस्विनी है, जो अपने बच्चों के लिए सब कुछ त्याग करने के लिए तत्पर रहती है। माँ नाम तो सदा ही पवित्रता का प्रतीक रहा है, विश्व में 'माँ' नाम से अधिक पवित्र और निर्मल दूसरा कौन सा नाम है, जिसके पास वासना कभी फटक भी नहीं सकती? यही भारत का आदर्श है। इसलिए लिखा है :

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्दास्तत्राऽफला क्रियाः॥

अर्थात् जहाँ नारी का आदर होता है, वहाँ देवता रहते हैं। जहाँ उनका आदर नहीं होता, वहाँ सारे कार्य निष्फल होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर हम सभी भारतीयों को इन्हीं विचारों को लेकर आगे बढ़ना चाहिये और बाजारवाद तथा भूमण्डलीकरण के नाम पर जो आजकल दूरदर्शन के सीरियलों, सिनेमाओं, विज्ञापनों तथा एलबमों में जिस प्रकार नारी की नग्नता, अश्लीलता का भौंडा प्रदर्शन किया जा रहा है एवं जो हमारी संस्कृति का सर्वनाश करने पर तुला हुआ है उसे रोकने का संकल्प लेना चाहिये।

अतः आज हमारी सरकार और समाज के कर्णधारों, शासनकर्ताओं, समाजसेवियों और धार्मिक नेताओं का यह दायित्व बन जाता है कि वे अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये संगठित होकर संघर्ष का निर्णय करें।

हमें आशा है कि भारतीय जनमानस इसके विरुद्ध आन्दोलन कर भारतीय संस्कृति की रक्षा करने में सहयोगी सिद्ध होगा।

-महेशचन्द्र शर्मा, पूर्व महापौर

Commemorate 150th Birth Anniversary of Swami Vivekananda in a Befitting Manner

- Justice Dr. M. Rama Jois
Member of Parliament-Rajya Sabha
Former Chief Justice of Punjab and
Haryana High Court and former
Governor of Jharkhand and Bihar

(6)

Incorporate 'DHARMA' supplemented by best of the teachings of all religions including Bhagvadgita in school and college curriculum in implementation of the advice of Swami Vivekananda that man making, character building education should be provided for the purpose of National reconstruction. This exactly has been the recommendation of HRD Committee presided over by Sri. S.B. Chavan, quoted with approval by the Supreme Court in Aruna Roy's case, [2002 (7) SCC 368, at para 29, page 388]:

"Our educational system aims at only information based knowledge and the holistic views turning the student into a perfect human being and a useful member of society has been completely set aside". Swami Vivekananda aptly said:

'Education is not the amount of information that is put in your brain and runs riot there, undigested, all your life. We must have life building, man-making, character-making, assimilation of ideas. If education is identical with information, libraries are the greatest sages of the world and encyclopaedias are rishis'.

Truth (Satya), righteous conduct (dharma), peace (shanty), love (prem) and non-violence (ahimsa) are the core universal values which can be identified as the foundation stone on which the value based education programme can be built up.

These five are indeed universal values and respectively represent the five domains of human personality-intellectual, physical, emotional, psychological and spiritual. They also are correspondingly

correlated with the five major objectives of education, namely, knowledge, skill, balance, vision and identity' (para-7 and 8]

Primary school stage is the period in a child's life when the seed of value education can be implanted in his/her impressionable mind in a very subtle way. If this seed is nurtured by the capable hands of dedicated teachers in school, if they insert values at appropriate intervals during a child's school life, it can be easily said that the battle in building up national character has been won. [para-9]

The panacea for corruption, abuse of power and immoral conduct which are rampant and eating into the vitals of the Nation lies in making instructions in Dharma or moral code compulsory in the school/college curriculum. There is no word which is equivalent to the Sanskrit word 'Dharma' in any other language of the World. Dr. Radha Krishnan has stated 'virtue is 'Dharma' and 'vice is adharma'. To put in one sentence, Dharma is moral code of conduct common to all whereas religion is mode of worship of God by believers in God by giving Him different names. Religions are many and personal but Dharma is one and Universal. Best of good code of conduct which are prescribed in different religions including Bhagvadgita should also be supplemented. This would fulfill the advice of Swami Vivekananda to provide man-making, character-building education.

It is paradoxical that comprehensive word Dharma is being translated into religion and vice-versa, though there is a vast difference between Dharma and Religion. All the rules of righteous conduct in every sphere of human activity evolved from times immemorial in the World fall within the meaning of the word Dharma. The basic aspects of Dharma have been specified in Mahabharata and Manu Smriti thus :

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।

Truthfulness, to be free from anger, sharing wealth with others, (samvibhaga) forgiveness, procreation of children from one's wife

alone [sexual morality], purity, absence of enmity, straightforwardness and maintaining persons dependent on oneself are the nine rules of the Dharma of persons belonging to all the varnas. (M.B. Shantiparva 6-7-8).]

Manu Smriti is more concise and brought 'Dharma' under five heads.

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

Ahimsa (non-violence), Satya (truthfulness), Asteya (not acquiring illegitimate wealth), Shoucham (purity), and Indriyanigraha (control of senses) are in brief the common Dharma for all the varnas [Manu Smriti X-163].

It is significant that there is no reference to God in both the definitions. Thus, Dharma applies both to believers in God as also non-believers.

(7) Purpose of Dharma has also been clearly explained by the Supreme Court in the case of Narayana Dixitalu Vs. State of Andhra Pradesh [1996 (9) SCC 548 at paragraph 78]

"The word 'dharma' denotes upholding, supporting, nourishing that which upholds, nourishes or supports the stability of the society, maintaining social order and general well-being and progress of mankind; whatever conduces to the fulfillment of these objects is dharma".

Incorporating 'Dharma' in the school/college curriculum is the best way to commemorate 150th birth anniversary of Swami Vivekananda in a befitting manner, simultaneous with the enacting of strong Lokpal Act.



Happiness presents itself before man, wearing the crown of sorrow on its head. He who welcomes happiness must also welcome sorrow.

Hold On Yet a While, Brave Heart

- Swami Vivekanand

Swami Vivekanand was not only an orator and prose writer, he was a good poet as well. Here is a poem composed by him in English.

If the sun by the cloud is hidden a bit,
If the welkin shows but glooms,
Still hold on yet a while, brave heart,
The victory is sure to come.

No winter was but summer came behind,
Each hollow crests the wave,
They push each other in light and shade;
Be steady then and brave.

The duties of life are sore indeed,
And its pleasures fleeting, vain,
The goal so shadowy seems and dim,
Yet plod on through the dark, brave heart,
With all thy might and main.

Though the good and the wise in life are few,
Yet theirs are the reins to lead,
The masses know but late the worth;
Heed none and gently guide.

With thee are those who see afar,
With thee is the Lord of might,
All blessings pour on thee, great soul,
To thee may all come right!

हे अमेरिका की स्त्रियों वह माता कहाँ है?

-विवेकानन्द

- डॉ० (श्रीमती) अजित गुप्ता

“भारत में स्त्री-जीवन के आदर्श का आरम्भ और अन्त मातृत्व में ही होता है। प्रत्येक हिन्दू के मन में “स्त्री” शब्द के उच्चारण से मातृत्व का स्मरण हो आता है, और हमारे यहां ईश्वर को माँ कहा जाता है।” उक्त विचार स्वामी विवेकानन्द ने पेंसाडेना, कैलिफोर्निया के शेक्सपीयर क्लब हाउस में 18 जनवरी 1900 को अपने उस उद्बोधन में दिए थे जिसमें उनसे प्रश्न किया गया था कि “क्या आप अपने यहां की स्त्रियों के रीति-रिवाज, उनकी शिक्षा और पारिवारिक जीवन में उनके स्थान के सम्बन्ध में कुछ बताएंगे?”

(8)

स्वामी जी ने अपने भाषण में कहा कि मैं ऐसे आश्रम का मनुष्य हूँ, जिसमें विवाह नहीं किया जाता, इसलिए स्त्रियों का प्रत्येक दृष्टिकोण से-माता, स्त्री, कन्या और बहन के रूप में-मेरा ज्ञान अन्य लोगों की तरह पूर्ण नहीं भी हो सकता। फिर भी धर्म प्रचारक होने के नाते भारतीय स्त्रियों के बारे में जानने का अधिक अवसर प्राप्त होता है। स्वामीजी कहते हैं कि विभिन्न राष्ट्रों के सम्बन्ध में कुछ कहते समय, हम यह पहले से ही मान लेते हैं कि सभी जातियों के लिए एक ही आदर्श और एक ही आचार है। जब हम दूसरों का विचार करने लगते हैं। तब हम मान लेते हैं कि जो हमारे लिए शुभ है, वह सबके लिए शुभ होगा। जो हम करते हैं, ठीक करते हैं और जो कुछ हम नहीं करते, वह यदि दूसरे करते हैं, तो गलती करते हैं। मैं आलोचना की दृष्टि से यह नहीं कह रहा हूँ वरन सच्ची बात बताने के लिए कहता हूँ। आप लोग अपने को सबसे श्रेष्ठ समझते हुए दूसरी जाति की स्त्रियों के प्रति आश्चर्य प्रकट करते हैं, उसी प्रकार वे भी आपके आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज को ग्रहण नहीं करतीं, क्योंकि वे भी आपको देखकर चकित रह जाती हैं।

पश्चिम में स्त्री पत्नी हैं। वहां पत्नी के रूप में ही स्त्रीत्व का भाव केन्द्रित है। किन्तु भारत में जनसाधारण समस्त स्त्रीत्व को मातृत्व में ही केन्द्रीभूत मानते हैं। पाश्चात्य देशों में गृह-स्वामिनी और शासिका पत्नी है, भारतीय गृहों में गृहस्वामिनी और शासिका माता है। पाश्चात्य गृहों में यदि माता हो भी, तो उसे पत्नी के अधीन रहना पड़ता है। क्योंकि घर पत्नी का है। हमारे घरों में माता के अधीन पत्नी है। आदर्शों की इस भिन्नता पर ध्यान दीजिए। अब मैं चाहता हूँ कि आप इनकी तुलना कीजिए।

मैं आपके समक्ष कुछ तथ्य उपस्थित करूंगा, जिससे आप स्वयं इन दोनों की तुलना कर सकें। यदि आप पूछें-“पत्नी के रूप में भारतीय स्त्री का क्या स्थान है?” भारतीय पूछ सकता है, “माता के रूप में अमेरिकन स्त्री कहां है?” उस तपस्विनी एवं ओजस्विनी माता का, जिसने हमें जन्म दिया, तुमने क्या सम्मान किया है? जिसने हमें नौ माह तक अपने शरीर में वहन किया है, वह माता क्या है? जो हमारे जीवन के लिए यदि प्राणों की आहुति देने की आवश्यकता हो, तो बीस बार भी देने को उद्यत है, वह माता कहां है? कहां है वह, जिसका प्रेम कभी नहीं मरता-मैं कितना ही दुष्ट और अधर्मी क्यों न हो जाऊं? साधारण सी बात को लेकर तलाक के लिए न्यायालय का दरवाजा खटखटाने वाली तुम्हारी उस पत्नी के सामने उसका स्थान कहां है? हे अमेरिका की स्त्रियों वह माता कहां है? उसे मैं आपके देश में नहीं पा सकूंगा। मुझे यहां वह पुत्र दिखायी नहीं देता, जो कहता हो कि माता का पद प्रथम है। कहां है वह? क्या “स्त्री” संज्ञा केवल भौतिक शरीर मात्र को ही दी जाने के लिए है? हिन्दू मन उन आदर्शों के प्रति सशक्त रहता है, जिनमें यह कहा जाता है कि मांस को मांस से ही संलग्न रहना चाहिए। नहीं, नहीं, देवि। मांसलता से सम्बद्ध किसी भी वस्तु से तुम्हें संलग्न नहीं किया जाएगा। तुम्हारा नाम तो सदा ही पवित्रता का प्रतीक रहा है, जिसके पास वासना कभी फटक नहीं सकती। यही भारत का आदर्श है।

हमारे यहां का नियम है कि हम प्रत्येक स्त्री को मां कहकर बुलाते हैं। हमें तो छोटी लड़की को भी मां कहकर पुकारना पड़ता है। लेकिन जब यहां पर मैंने कहा कि “हां, माता!” तो वे दहल उठती हैं। पहले तो मुझे समझ नहीं आया लेकिन अब आ गया है कि इस कथन का अर्थ होता है कि वे वृद्धा हैं। भारत में स्त्रीत्व मातृत्व का ही बोधक है, मातृत्व में महानता, स्वार्थशून्यता, कष्ट-सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भाव निहित है। इस नश्वर संसार में ईश्वर के प्रेम के समीपतम माता का ही प्रेम है। नारी को पूर्ण करने के लिए तथा नारी को नारी बनाने के लिए अपेक्षित है-मातृत्व। मातृ पद के बाद ही उसे अधिकार प्राप्त होगा। हिन्दू संस्कृति के अनुसार स्त्री-जीवन का उद्देश्य माता का गौरवमय पद प्राप्त करना ही है। भारत में माता-पिता प्रत्येक बालक के जन्म के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। “आर्य” को परिभाषित करते हुए स्मृतिकार मनु कहते हैं-वही सन्तान आर्य है, जो प्रार्थना के द्वारा जन्म लेती है, बिना प्रार्थना के उत्पन्न प्रत्येक सन्तान मानो अधर्म से उत्पन्न सन्तान है। आप सभी से मैं एक प्रश्न पूछना चाहता हूं। क्या आप माता होने के लिए कृतज्ञ हैं? क्या आप यह समझती हैं कि मातृत्व प्राप्त करके आप पवित्र्यपूर्ण गौरव को प्राप्त करती हैं? आप अपना हृदय टटोलें और पूछें। यदि नहीं तो आपका विवाह मिथ्या है, आपका नारीत्व मिथ्या है और आपकी शिक्षा एक ढकोसला है और यदि आपके बच्चे प्रार्थना के बाद

जन्म लेते हैं, तो वे संसार के लिए अभिशाप सिद्ध होंगे।

आप पाश्चात्य लोग व्यक्तिवादी हैं। आप कोई कार्य इसलिए करते हैं कि वह आपको प्रिय है। स्त्री और पुरुष विवाह क्यों करते हैं? क्योंकि वे एक-दूसरे पसन्द करते हैं। उनके विवाह के लिए कोई उत्तरदायी नहीं। वे मनमाना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। लेकिन जब उन्हें समाज में रहना होगा तब उनके विवाह का समाज पर शुभ या अशुभ प्रभाव पड़ सकता है। लेकिन भारतीय समाज का आधार है-जाति नियम। जाति में पैदा होने से सारा जीवन जाति-नियमों से बिताना होगा। इसलिए आपकी भाषा में यह कहा जा सकता है कि पश्चिम का व्यक्ति व्यक्तिपरक और भारतीय समाजपरक होता है। शास्त्रों के अनुसार पागल, क्षयरोगी, शराबी आदि व्यक्तियों की संतान के विवाह नहीं किए जाएंगे। भारत में जब समाज के ही नियमों से विवाह होने हैं तब आयु का बंधन नहीं रहता। बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाते हैं। इस विवाह का पहला विवाह कहा जाता है और एक दूसरा धार्मिक कृत्य होता है उसे गौना कहते हैं। गौने के बाद ही पति और पत्नी माता-पिता के साथ एक ही घर में रहते हैं।

(9)

स्त्रियों की स्थिति के बारे में विवेकानन्दजी कहते हैं कि अमेरिकन यात्री मार्क ट्वेन भारत के सम्बन्ध में लिखते हैं कि-पाश्चात्य देशीय आलोचकों ने हिन्दुओं के रीति-रिवाजों के बारे में चाहे जो कहा हो, किन्तु मैंने भारतवर्ष में कभी किसी स्त्री को बैल के साथ हल में जोते जाते या कुत्ते के साथ गाड़ी खींचते नहीं देखा, जैसा यूरोप के कुछ देशों में होता है। मैंने भारतवर्ष में स्त्रियों को खेतों में काम करते हुए नहीं देखा। भारत में सबसे नीची जाति की स्त्रियां भी कोई कठिन काम नहीं करती।

स्त्रियों की शिक्षा के बारे में वे कहते हैं कि हमारे धर्म में तो स्त्रियों को शिक्षा देने का निषेध है ही नहीं। पुराने ग्रन्थों में तो यह भी लिखा है कि विद्या पीठों में लड़के और लड़कियां दोनों ही जाते थे। यह आश्चर्य का विषय है कि ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के दरवाजे स्त्रियों के लिए आज भी बन्द है जबकि कलकत्ता में बीस वर्ष पूर्व ही दरवाजे खोल दिए गए थे। लेकिन परतंत्रता में भारत में शिक्षा सारे राष्ट्र की ही शिक्षा उपेक्षित हो गयी। विदेशियों की ये शिक्षा-संस्थाएं थोड़े मूल्य पर उपयोगी गुलाम पैदा करने के कारखाने हैं। अर्थात् इन कारखानों में मुंशी, डाकबाबू, तार बाबू आदि पैदा होते हैं।

विवेकानन्द जी ने अपने भाषण में कहा कि भारत में स्त्रियों के तीन रूप हैं-माता, पत्नी और कन्या। भारतीय घरों में कन्या एक समस्या है। कन्या का विवाह करना परिवार के लिए एक बड़ी समस्या है। हमारे परिवारों में माता का स्थान सबसे

ऊँचा, फिर पत्नी का और फिर कन्या का स्थान है। हमारे यहां का कोटिक्रम बहुत ही पेचीदा है, उसे कोई भी विदेशी समझ नहीं सकता। उदाहरण के लिए हमारे यहां सम्बोधन सूचक सर्वनाम के तीन रूप होते हैं। आप, तुम और तू। हम अपने से बड़ों को आप, समवयस्क को तुम और छोटे को तू बोलते हैं। सम्पूर्ण आचार-व्यवहार इसी अनुरूप होता है। जबकि आपके यहां माता का भी नाम लिया जाता है। इसी प्रकार विधवा विवाह के बारे में भी हमारी धारणाएं उच्च जाति वर्ग में अलग और निम्न जाति वर्ग में अलग है। चूँकि उच्च जाति में कन्याएं अधिक हैं और निम्न जाति में कन्याओं का प्रतिशत कम है इसलिए उच्च जाति में विधवा विवाह निषेध है। समाज का कहना है कि हमें तुम्हारे वैधव्य पर खेद है लेकिन हमने तुम्हें एक अवसर दिया लेकिन अभी और कन्याएं अविवाहित हैं इसलिए तुम्हें दोबारा अवसर नहीं दिया जा सकता।

(विवेकानन्द साहित्य के प्रथम खण्ड से साभार)



सम्पर्क F सहयोग F संस्कार F सेवा F समर्पण

पढ़ें और पढ़ायें तथा भेंट करें

GYAN PRABHA

(QUARTERLY)

ज्ञान प्रभा

त्रैमासिक

25

त्रैमासिक ज्ञान प्रभा के
आजीवन सदस्य बनें।

सहयोग राशि वार्षिक
100/-
आजीवन 1500

Foreign Scholars'
Articles about
Swami Vivekananda

स्वामी विवेकानंद का अध्यात्म और अद्वैतवाद

- डॉ० बसन्ती हर्ष

यदा यदा ह धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् (श्रीमद्भागवतगीता में श्री कृष्ण भगवान अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि)–

जब जब भी धर्म की ग्लानि अथवा पतन होने लगता है तब तब ही हे भारत! (अर्जुन) धर्म के उत्थान के लिए मैं प्रत्येक युग में (बारम्बार) जन्म लेता हूँ।

(10)

स्वामी विवेकानन्द को भी यदि इसी प्रकार का अति मानव दिव्य पुरुष कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। सत्य-द्रष्टा, वीर योद्धा तथा सन्यासी स्वामी विवेकानन्दजी के अद्भुत प्रयासों व क्रिया-कलापों से न केवल भारत में अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के लिए मानो नये युग का सूत्रपात हुआ।

स्वामी विवेकानन्द का जन्म 12 जनवरी 1863 को कोलकाता के सिमुलिया मौहल्ले में प्रसिद्ध बैरिस्टर विश्व मोहन दत्त के घर हुआ। इनकी माता का नाम भुवनेश्वरी था। स्वामी विवेकानन्द का बचपन का नाम नरेन्द्र था। नरेन्द्र बाल्यकाल से ही विलक्षण प्रवृत्ति का था। किशोरावस्था में नरेन्द्र मेघावी, बलिष्ठ तथा निडर होने के साथ-साथ अपने साथियों के बीच नेता के रूप में सदैव सक्रिय रहे।

महाविद्यालय में अध्ययन कर रहे नरेन्द्र नाथ की भेंट अपने भावी गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव से हुई। यहीं से नरेन्द्र नाथ के सोच विचार व गतिविधियों का तरीका बदला तथा उनकी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ हुई जो अनवरत आगे बढ़ती गई। नरेन्द्र नाथ रामकृष्ण परमहंस का सान्निध्य पाकर नरेन्द्र से 'नरेन' बने। तत्पश्चात् खेतड़ी के नरेश राजा अजीतसिंह ने उन्हें 'स्वामी विवेकानन्द' नाम दिया। बाद में इसी नाम से सुशोभित होते हुए उन्होंने समस्त जगत का विवेक और वैराग्य द्वारा स्थायी आनन्द प्राप्ति का सन्देश दिया।

स्वामी जी के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र की उन्नति या स्थायित्व का अलग-अलग तरीका वे कार्यप्रणाली होती है। उसी के आधार पर किसी राष्ट्र की प्रगति सम्भव है। धर्म के पुनरुत्थान हेतु आध्यात्मिक विकास ही हमारे देश की उन्नति हेतु आधारशिला है। अतः देश का अस्तित्व बचाये रखने तथा उसे उन्नति प्रदान करने के लिए धर्म

रूपी मेरुदण्ड को सुदृढ़ रखना आवश्यक है। हमारे अन्तःकरण में विराजमान दिव्य गुणों को पहचान कर उनका विकास करना ही धर्म या कहें कि अध्यात्म की उन्नति है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्

नेमा विद्युतो भाति कुतोडयमग्निः (कठोपनिषद् 2/2/15)

वहां सूर्य प्रकाश नहीं करता, चन्द्र और सितारे भी वहां नहीं, ये बिजलियां भी वहां नहीं चमकती, फिर इस भौतिक अग्नि का तो कहना ही क्या है?

कठोपनिषद् की इन दिव्य हृदयस्पर्शी पंक्तियों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक ऐसे जगत में पहुंच गये हैं जो हमारे पास होते हुए भी मानो कालातीत हो। इसी महान भाव के साथ-साथ उसका अनुगामी एक और महान भाव है जिसे मानव जाति और भी आसानी से प्राप्त कर सकती है एवं जो मनुष्य के दैनिक जीवन में अनुसरणीय होने के साथ-साथ मानव जीवन के प्रत्येक विभाग में प्रविष्ट कराया जा सकता है। यह क्रमशः पुष्ट होता आया है और परवर्ती युगों में पुराणों में और भी स्पष्ट भाषा में व्यक्त किया गया है एवं वह है भक्ति का आदर्श। भक्ति का बीज पहले से ही विद्यमान है। संहिताओं में भी इसका थोड़ा बहुत परिचय मिलता है, उससे अधिक विकास उपनिषदों में देखने में आता है।

उपरोक्त कथनोपकथन स्वामी विवेकानन्द द्वारा लाहौर में 9 नवम्बर 1987 में दिए गए भाषण का अंश है।

उन्होंने जीवन को उन्नत बनाने हेतु आध्यात्मवाद को महत्वपूर्ण माना। आध्यात्मवाद अथवा ईश्वर के प्रति आस्था या भक्ति हेतु हमें पुराणों को समझना नितान्त आवश्यक है, ऐसा उनका मत था। सभी पुराणों का आरम्भ से अन्त तक भलीभांति निरीक्षण करने पर हमें एक तत्व निश्चित और स्पष्ट रूप में दिखाई देता है और वह है आध्यात्मवाद। साधु, महात्मा और राजर्षियों के चरित्र का वर्णन करते हुए आध्यात्मवाद बारम्बार उल्लिखित, उदाहृत और आलोचित हुआ है। भक्ति के आदर्श के दृष्टान्तों को समझना ही सब पुराणों का प्रधान उद्देश्य जान पड़ता है। यह आदर्श साधारण मनुष्यों के लिये अधिक उपयोगी है। ऐसे लोग विरले ही होंगे जिन्हें वेद पुराणों का भरपूर ज्ञान हो। उसके तत्वों पर अमल करना तो और भी दूर की बात है। वस्तुतः एक वेदान्ती को सभी प्रकार के सांसारिक राग-द्वेष, लोभ-मोह आदि को छोड़कर निर्भीक (अभीः) होना होगा। जो लोग सर्वत्र अनेकानेक विषयों में उलझे हुए हैं, नाना विषय भोगों के दासत्व के बन्धन में जकड़े हुए हैं, वे मानसिक रूप से कितने दुर्बल होते जा रहे हैं, उसे शब्दों में वर्णन करना कठिन है। ऐसे ही लोगों को हमारे पुराण या वेदान्त आध्यात्म का अत्यन्त मनोहारी सन्देश देते हैं। (विवेकानन्द साहित्य-पृष्ठ संख्या 278)

स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार अन्य अनेक धर्मग्रन्थों में भी जन साधारण के लिए धर्म का मार्ग बताया गया, परन्तु वेदान्त या अद्वैत में बताये गये धर्मोपदेश अन्य धर्मों की अपेक्षा प्रशस्ततर, उन्नतर और सर्वसाधारण के लिए उपर्युक्त हैं। (विवेकानन्द साहित्य-पृष्ठ संख्या 279)। हमें अपने दैनिक जीवन में इसी भाव का अनुसरण करना होगा। इससे भक्ति का भाव क्रमशः परिस्फुट होकर अन्त में प्रेम का सारभूत बन जाता है। हां, इसके लिए व्यक्तिगत स्वार्थ तथा जड वस्तुओं के प्रति अनुरक्ति से दूर होना होगा।

स्वामी जी ने अपने वक्तव्य में वेदों के बारे में बताया कि वेद अनादि व अनन्त हैं, वे ईश्वरीय ज्ञान राशि हैं, स्वतः प्रमाण हैं। वेद कभी लिखे नहीं गये, न कभी सृष्ट हुए। वे अनादिकाल से वर्तमान हैं। जैसे सृष्टि अनादि व अनन्त है वैसे ही ईश्वर का ज्ञान भी। यह ईश्वरीय ज्ञान ही वेद है। 'विद्' धातु का अर्थ है जानना। वेदान्त नामक ज्ञान राशि ऋषि नामधारी पुरुषों के द्वारा आविष्कृत हुई है। वस्तुतः मन्त्रद्रष्टा वर्तमान भावांश के द्रष्टा थे। ऋषिगण आध्यात्मिकता के आविष्कारक थे।

यह वेद नामक ग्रन्थ राशि प्रधानतः दो भागों में विभक्त है-कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड, संस्कार पक्ष और आध्यात्म पक्ष। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत साधारण व्यक्ति के कर्तव्य निहित हैं। जबकि दूसरा भाग ज्ञानकाण्ड हमारे धर्म का आध्यात्मिक अंश है जिसका नाम वेदान्त है अर्थात् वेदों का अन्तिम भाग, वेदों का चरम लक्ष्य। वेद ज्ञान के इस सार अंश का नाम है वेदान्त अथवा उपनिषद्। वस्तुतः उपनिषदों के ही बड़े-बड़े आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्व आज हमारे घरों में पूजा के प्रतीक रूप में परिवर्तित होकर विराजमान हैं। इस प्रकार आज हम जितने पूजा के प्रतीकों का व्यवहार करते आये हैं, वे सबके सब वेदान्त से आये हैं क्योंकि वेदान्त में उनका रूपक भाव से प्रयोग किया जाता है फिर क्रमशः वे भाव जाति के मर्म स्थान में प्रवेशकर अन्त में पूजा के प्रतीकों के रूप में उसके दैनिक जीवन के अंग बन गये हैं। (विवेकानन्द साहित्य-पृष्ठ संख्या 20)

स्वामी विवेकानन्द ने आध्यात्मिक तथा ब्रह्मतत्त्व को जानने के लिए अपनी आत्मा के अनुसन्धान को महत्त्व दिया। वस्तुतः बाह्य जगत की घटनाएं उस सर्वातीत अनन्त सत्ता के विषय में हमें कुछ नहीं बताती, केवल अन्तर्जगत् के अन्वेषण से ही उसका पता लग सकता है।

इस परम सत्ता या कहें कि परमात्मा के भी हमारे शास्त्रों में दो रूप कहे गये हैं-सगुण और निर्गुण। सगुण ईश्वर के अर्थ से वह सर्वव्यापी है, संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। संसार का अनादि जनक तथा जननी है। जबकि निर्गुण

ब्रह्म के लिये ये सभी विशेषण अतार्किक व अनावश्यक माने गये हैं। वेदों में उसके लिए 'सः' शब्द का प्रयोग न करके उसके निर्गुण भाव को समझाने के लिए 'तत्' शब्द द्वारा उसका निर्देश किया गया है। 'सः' शब्द कहने से वह व्यक्ति विशेष हो जाता तथा जीव जगत के साथ उसका पार्थक्य सूचित हो जाता है। इसलिए निर्गुण वाचक 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है और तत् शब्द से निर्गुण ब्रह्म का प्रचार हुआ है। इसी को अद्वैतवाद कहते हैं।

जब हम इस अनन्त और निर्गुण पुरुष से अपने को पृथक सोचते हैं तब ही हमारे दुःख की उत्पत्ति होती है और इस निर्वचनीय निर्गुण ही समस्त प्राणिजनों को आत्मवत् प्यार करने का सिद्धांत प्रतिपादित होता है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की एकात्मकता व विश्व की एकता को अनुभव करने पर ही मनुष्य और इतर प्राणियों में कोई भेद नहीं रहता है। तब हमें यह बात समझ में आयेगी कि दूसरों को प्यार करना स्वयं को प्यार करना है व दूसरों को हानि पहुंचाना स्वयं का ही अहित है। उस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास कर सब प्रकार के कुसंस्कारों से मुक्त हो 'मैं ही वह निर्गुण ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान के बल पर अपने पैरों पर खड़े होने से एक अद्भुत शक्ति का संचार हो जाता है। मनुष्य तब निर्भय होकर अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है जो असीम अनन्त अविनाशी है, जिसे कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः (गीता 2/23)

स्वामी जी के अनुसार हमें इसी आत्मा पर विश्वास करना होगा, इसकी इच्छा से शक्ति प्राप्त होगी। हम जो सोचेंगे वही हो जायेंगे। यदि स्वयं को दुर्बल मानोगे तो दुर्बल और शक्तिशाली सोचोगे तो शक्तिशाली हो जायेंगे। इससे हमें यही शिक्षा मिलती है कि हम अपने को कमजोर न मानकर वीर्यवान्, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ मानें। हमारे अन्दर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियां, पूर्ण पवित्रता और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं। फिर हम उन्हें जीवन में प्रकाशित क्यों नहीं कर सकते। यदि हम उन पर विश्वास करें तो उनका विकास अवश्यम्भावी है। निर्गुण ब्रह्म से हमें यही शिक्षा मिलती है। इसी प्रकार हम तेजस्वी हों तथा अपने ही पैरों पर खड़े हो सकें। साहसी, सहिष्णु व सर्वविजयी बन सकें। इसके लिए उन्हें सर्वप्रथम आत्मा की महिमा के बारे में ज्ञान प्रदान करना होगा। यह शिक्षा केवल वेदान्त द्वारा ही प्राप्त होगी। क्योंकि वेदान्त में ही वह महान् तत्त्व है जिससे सारे संसार के भावजगत् में क्रान्ति होगी और भौतिक जगत् के ज्ञान के साथ धर्म का सामंजस्य स्थापित होगा।

इस प्रकार से स्वामी विवेकानन्द ने द्वैत, विशिष्टाद्वैत, तथा अद्वैत मतों का वर्णन करके उनके सिद्धान्तों का समन्वय किया। उनके अनुसार उपर्युक्त सभी मतों में प्रत्येक मानो एक एक सोपान है-एक सोपान पर चढ़ने के बाद परवर्ती सोपान पर चढ़ना होता है। सबके अन्त में अद्वैतवाद की स्वाभाविक परिणति है और अन्तिम सोपान है-तत्त्वमसि'। स्वामी जी ने इस पर खेद प्रकट किया कि वर्तमान भारत में धर्म का मूल तत्त्व नहीं रह गया है। सिर्फ थोड़े बाह्य अनुष्ठान मात्र रह गये हैं। भारतवासी इस समय न तो हिन्दू है और न ही वेदान्ती। वे केवल छुआछूत मत के पोषक हैं। इस स्थिति का अन्त होना ही चाहिये और जितना शीघ्र इसका अन्त हो, उतना ही धर्म के लिए अच्छा है।

स्वामीजी के अनुसार बहुत्व में एकत्व की खोज को ही ज्ञान कहते हैं और किसी विज्ञान का चरम उत्कर्ष तब माना जाता है जब सारे अनेकत्व में एकत्व का अनुसन्धान विज्ञान दोनों पर समान रूप से लागू होता है।

(12)

कहने का सार यही है कि यदि हम ईश्वर को पाना चाहते हो तो काम कांचन का त्याग करना होगा। यह संसार असार, मायामय और मिथ्या है। लाख यत्न करो, पर इसे छोड़े बिना कदापि ईश्वर को नहीं पा सकते। जो ब्रह्म को भली भाँति जान चुका है, अर्थात् जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, जिसके लिए ईश्वर करतलामकवत् है-श्रुति का कहना है कि वही गुरु होने योग्य है। जब यह आध्यात्मिक संयोग स्थापित होता है, तब ईश्वर का साक्षात्कार होता है-तब ईश्वर दृष्टि सुलभ होती है। गीता में भी यही भाव व्यक्त किया गया है कि-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थित मनः

निर्दोष हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः

(श्रीमद् भगवद्गीता 5/19)

अर्थात् जिनका मन इस साम्य भाव में अवस्थित है, जिन्होंने इस जीवन में ही संसार पर विजय प्राप्त कर ली है। चूँकि ब्रह्म निर्दोष और सबके लिए सम है, इसलिए वे ब्रह्म में अवस्थित हैं।

□

युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द

– तरुण कांति बसु

रत्नगर्भा माता भुवनेश्वरी देवी ने काशी के आत्मावीरेश्वर की मनौती से प्राप्त पुत्र को 12 जनवरी 1863 में जन्म दिया और नाम रखा वीरेश्वर, जिसे बाद में परिवर्तित कर नरेन्द्र नाथ कर दिया। श्री रामकृष्ण परमहंस द्वारा दीक्षित नरेन्द्रनाथ कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द नाम से विश्वप्रसिद्ध हुए। वे 1887, 1888, 1889, 1890 तथा 1902 में काशी आए थे। पहली बार गोलघर मैदागिन स्थित किसी दामोदर दासजी के निवास या धर्मशाला में ठहरे थे परन्तु बाद में दो बार चौखम्भा स्थित बंगाली ड्योढी में बाबू प्रमदा दास मित्र के निवास स्थान पर, चौथी बार उनके बागान बाड़ी जो अब होटल हिन्दुस्तान (मलदहिया स्थित) के रूप में हैं और पांचवी बार अर्दली बाजार स्थित गोपाल विला (टेगोर परिवार) जहां आजकल बेसिक ट्रेनिंग कालेज है, ठहरे थे। परलोक गमन के दो माह पूर्व 1912 में भी वे यहां ठहरे थे जहां से उन्होंने अपनी विदेशी शिष्या को पत्र लिखकर बताया था—“मैं एक सुन्दर बगीचे में ठहरा हूँ जहां असंख्य गुलाब की क्यारियां तरह-तरह के अन्य फूल, आम, आमरूद फल के पेड़, छायादार नीम और वट वृक्ष हैं।” काश! इस स्थान को स्वामी जी की स्मृति में—“विवेकानन्द अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक संस्था” का रूप दिया जाता जहां से भारतीय दर्शन, वेदान्त, आयुर्वेद, संगीत की शिक्षा पाकर भारतीय एवं विदेशी युवाओं का दल सामाजिक उत्थान के लिए प्रेरित होता। काशी में मनीषियों द्वारा स्थापित मंदिर और मठ तो हैं पर स्वामी जी की पहल पर स्थापित समाजसेवा के केन्द्र के रूप में रामकृष्ण मिशन ही है जो अपने कार्यकाल के सौ वर्ष पूरा कर चुका है। स्वामी जी काशी से ही दो बार गाजीपुर गये, जहां वे पवहारी बाबा के दर्शन एवं वचन सुनने को आतुर रहे। श्रीरामकृष्ण परमहंस उनके आध्यात्मिक गुरु थे पर काशी के प्रमदादास मित्र ज्ञान के गुरु और आत्मीय बड़े भाई के समान थे। अपनी पत्रावली में उन्होंने “श्रद्धासुमनेषु” कहकर उन्हें संबोधित किया एवं न केवल ज्ञान चर्चा की या पुस्तक मंगवायी वरन् अपने दुःख कष्ट को भी लिखा। जब उनकी माता और भाई को पट्टीदारों ने घर में बाहर कर भूख-प्यासे सड़क की पट्टी पर तीन दिन-रात्रि रहने पर मजबूर कर दिया था—उस समय 1890 में बाबू प्रमदादास ने उनकी सहायता की थी।

स्वाधीनता पूर्व विदेशियों के मानस पटल पर हमारे देश की छवि अनपढ़, गंवार,

नंगे फकीर एवं कुछ अत्यन्त अमीर महाराजाओं का देश के रूप में थी। भला हो मैक्समूलर, स्मिथ, बालेनटाईन, रोमा रोला, माडाम ब्लाडवस्की, ड्यूनाट, टोयेनवी आदि विद्वानों का जिन्होंने हमारे धर्मग्रन्थों, इतिहास और संस्कृत साहित्य का अनुवाद कर हमारी परम्परा और आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में यूरोप के बुद्धिजीवियों की गोष्ठी और सम्मेलनों में चर्चा आरंभ की पर संयुक्त राज्य अमेरिका इस धारा से अछूता रहा।

1893 में संयुक्त राज्य अमेरिका में कोलम्बस द्वारा उनकी खोज की चार सौवीं वर्ष गांठ मनाई जा रही थी। उसी उपलक्ष्य में शिकागो नगर में विश्व धर्म संसद का आयोजन किया गया था। उस सम्मेलन का उद्देश्य विश्व के सभी धर्मों (महन्तों-पादरी-राबाई-मौलवी) विद्वानों को एक मंच पर लाकर “सर्वधर्मसमभाव” की भावना को व्यावहारिक रूप देकर मानव कल्याण के लिए कार्य करना था।

हमारा देश उन दिनों 19वीं सदी में परतंत्रता के कारण आर्थिक रूप से जर्जर, सामाजिक रूप से विघटित, मानसिक रूप से हीन भावना से ग्रस्त था तथा जनमानस की ऊर्जा आपस में लड़ने में खर्च हो रही थी। इस अन्धकारमय परिस्थिति में श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस का अभ्युदय हुआ। उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय के स्नातक युवाशक्ति और मेधा से पूर्ण नरेन्द्र नाथ दत्त को स्वामी विवेकानन्द के रूप में परिणतकर दिया। परिव्राजक के रूप में भारत भ्रमण करते हुए उनके काशी आगमन में बारे में यह वर्णित है। उन्होंने कुछ अन्य विद्वानों एवं मित्रों से भी सम्मेलन के विषय में बात की। सभी एक राय थे कि उन्हें शिकागो जाना चाहिए।

स्वामी जी धर्म-सम्मेलन जाने के बारे में पशोपेश में थे, क्योंकि अमेरिका जाने में अनेक कठिनाइयां थीं, विशेष रूप से धन की कमी। इसी अधेड़बुन में वे कन्याकुमारी में एक चट्टान पर बैठकर तीन दिन ध्यान मग्न रहे जहां वे दिव्य ज्ञान से आलोकित हुए और भारतीय अध्यात्म की विरासत को दुनिया के सामने रखने का निर्णय लिया। नई उमंग-नये उत्साह और दिव्य ज्ञान से ओत-प्रोत ये युवा संन्यासी अमेरिका जाने के लिए प्रस्तुत हुए। मद्रास में उनके अनुयायी युवक अलसिंगा-पेरुमल अपने साथियों के साथ स्वामी जी की यात्रा के लिए धन-संग्रह में जुट गये।

अमेरिका की यात्रा बहुत खर्चीली थी, धन की कमी की समस्या को खेत्री के राजा ने पूर्ण किया। उनकी सहायता से स्वामी जी धर्म संसद आरंभ होने के दो माह पूर्व अमेरिका पहुंच गये। वहां बिना निर्मंत्रण के संसद में भाग लेना कठिन था। समय बीतता जा रहा था और धन समाप्त हो गया। एक समय ऐसा भी आया था जब उन्हें भूखे पेट कड़ाके की ठंड में फुटपाथ पर सोना पड़ा पर वे टूटे नहीं। सब बाधाएं दूर होती गईं। उन्हें विश्व धर्म संसद सम्मेलन में भाग लेने का आमंत्रण सहृदय अमेरिकी

(13)

महिला श्रीमती साराबुल के आतिथ्य से मिला।

शिकागो नगर के कोलम्बस हाल में विश्व धर्म संसद में भाग लेने वालों में संसार की जानी-मानी हस्तियों के साथ स्वामी विवेकानन्द आसीन हुए। मंच पर भारत के ब्रह्म समाज की ओर से श्री प्रताप चन्द्र मजूमदार थे। थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रतिनिधि थीं डॉ. ऐनी बेसेण्ट और बौद्ध धर्म का प्रतिनिधित्व श्रीलंका के अनागरिक धर्मपाल (जिन्होंने बाद में भारत में महाबोधि सोसाइटी की स्थापना कर, सारनाथ में मूलगंध कुटी विहार मंदिर बनवाया) ने किया।

11 सितम्बर 1893 प्रातः दस बजे शिकागो का कोलम्बस हाल श्रोताओं की उपस्थिति से खचाखच भरा था, कारडिनल गिबोन की अध्यक्षता में विश्व धर्म सम्मेलन संसद आरम्भ हुआ। स्वामी जी को दोपहर के समय बोलने का अवसर दिया गया। तीस वर्षीय युवा क्या बोलेगा, ऐसी फुसफुसाहट हो रही थी।

स्वामी जी अपने गुरु का स्मरण कर धीरे गंभीर मुद्रा में बोलने की जगह अग्रसर हुए और उन्होंने संबोधन आरंभ किया—“मेरे अमेरिका के भाइयों और बहनों”। इतना सुनते ही उपस्थित श्रोताओं एवं मंचासीन विद्वानों ने खड़े होकर ताली बजाना आरंभ कर दिया। इस औपचारिक सम्मेलन में किसी को यह आशा नहीं थी कि एक आगंतुक अनजान श्रोताओं को इतनी आत्मीयता से संबोधन करेगा। लेडीज एन्ड जेटलमैन सुनने के आदी श्रोता मंत्र मुग्ध होकर वेदान्त पर भाषण सुनने लगे और उसी दिन 11 सितम्बर 1893 को भारतीय ज्ञान, धर्म, एवं अध्यात्म का विश्वमंच पर डिंडिम घोष हुआ तथा भारतीय स्वामी विश्व गुरु के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

भगवान बौद्ध और स्वामी विवेकानन्द जैसे महात्मा एवं कवि गुरु रवीन्द्रनाथ भारत की पहचान हैं। स्वामी जी अच्छे गायक थे और पखावज बजाने में भी सिद्धहस्त थे। उन्होंने दरिद्र नारायण की सेवा का युवकों में संचार किया—शिकागो के उस हाल में आजकल “कला दीर्घा एवं शोध संस्थान—आर्ट इन्स्टीट्यूट ऑफ शिकागो” है और उस सड़क का नाम विवेकानन्द स्ट्रीट रखा गया है। विश्व की प्राचीनतम जीवंत नगरी, धर्म, आस्था-कला का केन्द्र काशी शिकागो से पिछड़ गया।



Of Doubters, Believers and Atheists

- Om Prakash Sharma

We want to lead mankind to the place where there is neither the Vedas nor the Bible nor the Qu'ran. Yet this has to be done by harmonising the Vedas, the Bible and the Qu'ran. Mankind ought to be taught that religions are but the varied expression of The Religion, which is Oneness, so that each may choose the path that suits him best.

- Swami Vivekananda

(14)

The secularists and rationalists, the so-called 'atheists', appear to be ranged against the religionists, or 'believers'. The former dub religion as the breeding ground of obscurantism, irrationality, intolerance and even fanaticism. Hence, Professor Richard Dawkins' controversy-charged, TV documentary; and such articles in the newspapers as Polly Toynbee's 'Banish Religion From Public life', which was originally published in *The Guardian* last year.

Can't we have a more universal, a more reason-based (and not just emotionally-charged) approach to religion that would do away with all the defects and blemishes that Toynbee and Dawkins speak of, that doesn't lend itself to fundamentalist or fanatical interpretations, that doesn't make for *jihadic* or crusadic tendency? Wouldn't it be much better to banish bigotry and intolerance from religion than religion itself from life, public or private—not to throw the precious baby away with the bath-tub water?

Obviously, the critics of religion, as it is commonly understood, view it in conventional straitjacket terms and so, they, to a great extent justifiably, denounce it. Religion, for most people, means just going to the church, or the temple, or the mosque—or any other place of worship regularly, doing a little bit of charity, and not infrequently getting imbued with narrow doctrines and dogmas making them feel that their religion is the only true one and that, moreover, it should willy-nilly be imposed upon the rest of humanity.

The Smithsonian Institution, Washington D.C., in its publication, *Abroad in America: Visitors to the New Nation, 1776-1914*, also includes the name of Vivekananda in the list of twenty-nine distinguished personages who set foot on the soil of the New World during that period and who had a considerable impact on the American people.

Nothing could be more irreligious, quoth the Swami, than the aforesaid stance of the followers of the proselytising faiths. His own approach to religion, which has been dubbed by the likes of Christopher Isherwood, Romain Rolland and others as 'universal', is based on a philosophy which is regarded as the most comprehensive Vedantic one.

It was, in the West at least, first preached by him at the World Parliament of Religions that was held in Chicago in 1893. As is well known, he took the gathering by storm through his learned and inspiring discourses and was hailed as the new 'Prophet of New India' by the cognoscenti.

The Swami's interpretation of religion is by a man who practised what he preached and who constantly emphasised 'self-realisation'. It does not equate 'man's noblest pursuit' with mere performance of rites, rituals, ceremonies and external observances (what apparel to wear, what formalities to fulfil, etc.) that most people mistake for the real thing itself.

To quote his words, recalling the bare essentials of the subject: "Religion is realisation; not talk, nor doctrine, nor theories, however beautiful they may be. It is being and becoming, not hearing or acknowledging; it is the whole soul becoming changed into what it believes."

And, "Each soul is potentially divine. The goal is to manifest this divinity within by controlling nature, external and internal. Do this either by work, or worship, or psychic control, or philosophy-by one, or more, or all of these-and be free. This is the whole of religion. Doctrines or dogmas or rituals or books or temples or forms are but secondary details."

This rendering helps as to transcend all national, racial, sectarian, doctrinal and other barriers that obstruct the seeker's path to perfection. It is neither Christian nor Hindu nor Muslim in the strict sense, yet it is all this and more.

In Vivekananda's view, even if one doesn't subscribe to any particular faith, doesn't believe in any religion, organised or otherwise, one does believe in oneself. And the manifestation of one's innate goodness, or divinity-call it what you will-through appropriate thoughts, words and deeds, as we have seen above, constitutes religion in the real sense.

Further, by the 'free' soul that he speaks of in the aforegiven definition, he means a person who has completely rid himself of all ignorance that clouds his spiritual being, who has surmounted all limitations springing from the 'soul-constricting' concept of 'I and mine', from the unblimated ego and the bondage of the 'body-mind complex'.

(15)

He is an individual who has attained the universal or, as the *shastras* say, 'a person who has had the unitive experience that makes for the realisation of his essential oneness with the entire universe.' Because of his basic non-dualistic perception and approach, the 'free' person concerned will never hurt or harm anyone, not even nature, for by so doing, he knows that he will only be hurting and harming himself.

Conversely, by loving, helping and caring for others, he will be thus ministering unto himself, and not conferring a favour on anybody 'for the all pervasive Self, as consciousness, informs all'.

This is the kind of reason-based (and not just emotionally surcharged). non-denominational (yet including within its folds all denominations) religion that we need today and which we should take pains to acquaint our younger generation with. It's more than mere humanism and it automatically translates itself into love for the entire human race, nay, the entire creation.

Compassion, honesty, truthfulness, patience, non-violence, a desire and a tendency to be of service to others in a holistic spirit,

or spirit of atonement with them and such other virtues and moral qualities that constitute the very fundamentals of all faiths worth the name (and are far removed from prevalent fundamentalism!) become a man's 'natural ornaments', to quote the words of the *Vedantasara*, 'which he does not have to strive to acquire'.

This enlightened *advaitic* (non-dualistic) spirituality will certainly not instill into anybody a 'holier than thou', or rather, 'holiest of all', attitude that is at the root of much socio-religious friction and communal strife.

In short, as Swami Vivekananda affirms, a right understanding and practice of religion 'converts a brute into a man, with divine attributes'. Contrarywise, a perverted and narrow interpretation and misapplication of it succeeds, as we see today, in turning 'a man into a brute' with apologies to the brute, it may be added!

To come back to the World Parliament of Religions held in Chicago, which has in retrospect, assumed great significance in this age of 'dialogue' as the first international interfaith meeting in the West, the Swami, in his famous final address, made the noteworthy observation: "If anyone here hopes that this unity will come by the triumph of any one of the religions and the destruction of the others, to him I say, 'Brother, yours is an impossible hope'. 'Do I wish that the Christian would become Hindu? God forbid, Do I wish that the Hindu or Buddhist would become Christian? God forbid. The seed is put in the ground, and earth and air and water are placed around it. Does the seed become the earth, or the air, or the water? No, it becomes a plant, it develops after the law of its own growth, assimilates the air, the earth, and the water, converts them into plant substance, and grows into a plant. Similar is the case with religion. The Christian is not to become a Hindu or a Buddhist, nor a Hindu or a Buddhist to become a Christian. But each must assimilate the spirit of individuality and grow according to his own law of growth."

If the Parliament of Religions has shown anything to the world it is this: it has proved to the world that holiness, purity and charity are not the exclusive possessions of any church in the world, and that every system has produced men and women of the most exalted dreams of the exclusive survival of his own religion and the

destruction of others, I pity him from the bottom of my heart, and point out to him that upon the banner of every religions will soon be written, in spite of resistance: 'Help and not fight', 'Assimilation and not Destruction', 'Harmony and peace and not Dissension" (his Complete Works, Vol. 1,p.24).

Elsewhere, too (in his speech on Sept. 11, 1893), he maintains that a Christian must become a good Christian, a Hindu a good Hindu, and a Muslim a good Muslim (all should shun bigotry, violence and fanaticism).

When they reach the acme of their respective realisations, they will discover, as his mentor, Sri Ramakrishna Paramahansa did, that the spiritual summit of all faiths is ultimately One. 'Followers of all religions, knowingly or unknowingly, are persons wending their way to the same goal.'

(16)

The 'holistic' approach to service is one of the main characteristics of the spiritually 'free' soul, according to the Swami. He always urged his followers to behold God everywhere and serve Him in the aforesaid manner (and not in a condescending spirit and attitude) in everyone, particularly in the poor, the downtrodden and the destitute.

This is the new form of worship that he enunciated in those times, and which Mother Teresa later, exemplified through her socially uplifting work. Merely worshipping god in the temple or church, and ignoring His presence in the world outside, is incomplete and preliminary. Hence, according to him, the best way of practising religion and pleasing God is to 'see the Omnipresent One in all and sundry and serve the selfsame Divine to the best of one's ability by meeting the requirements of the people concerned—food to the hungry, medicine to the sick and diseased, clothes to the naked, education to the illiterate and so forth.'



**For anything and everything regarding Bharat Vikas Parishad
visit Parishad's website (www.bvpindia.com)**

Vivekananda's Rama

The Ideal Human

- Sucharita Dey

Ramayana constitutes veritable treasure of Indian lore, theology, theosophy, science, legends and a whole range of philosophy. Puranic in nature, the Ramayana story percolates through all strata of Hindu society in the forms of literature, songs, sculptures, paintings and classical and folk performing arts.

Like any other Purana, this epic too hints at the religious views and doctrines in the form of stories and anecdotes. The most important philosophical view that we find in the gradual development of the epic is that of *an avatara* (the doctrine of divine incarnation). Of course, this concept is missing in the Vedas and the Upanisads. Perhaps that is why the Puranas as well as the heroes, both Lord Ramachandra and Lord Krishna of the two epics, significantly personified the heroic ideal of oriental society and reflected the creation of the heroic age too.

Rabindranath Tagore characterises Ramayana as an epic of the relations of family life and a history for ever. For him it is a history of Indian *sadhana*, *aradhana* and *samkalpa* (Ramayana, Prachin Sahitya).

This Divine Itihas is a sure way to the blossoming of totality in human consciousness.

In Swami Vivekananda's words, "Ramayana and Mahabharata are the two encyclopaedias of the ancient Aryan life and wisdom, portraying an ideal civilisation, which humanity has yet to aspire after."

The Swami says Ramayana symbolises chivalry and virtue and Rama, as the embodiment of truth, of morality, the ideal son, the ideal husband and above all, the ideal king.

In fact, the characters and incidents in Ramayana, provide the ideals and wisdom of common life and helped to bind the people of

India, regardless of caste, creed, language and religion. 'Rama' in the Ramayana story, is seen as an archetype of righteousness and the most sought after virtues in life. Ramayana is not a mere *mahakavya* for Vivekananda. To him it is a store-house of virtues of fearlessness, honesty, justice and devotion.

While referring to this literary work, he once said that no language can be purer, none more chaste, none more beautiful, and at the same time simple, than the language in which the great poet has depicted the life of Rama.

The Rama story has been Indian in many languages both Indian and foreign. Sister Nivedita spoke about the richness of the epic.

She said: "It would scarcely be going too far to say that no one unfamiliar with the story of Rama and Sita can be in any real sense a citizen of India, nor acquainted with morality as the greatest of Indian teachers conceived it. Perhaps one might go further and say that no one unfamiliar with the story of Rama and Sita can be a true citizen of the world".

(17)

Vivekananda delivered a lecture on Ramayana at the Shakespeare Club, California, on January 31, 1900, where he briefly narrated the story of Valmiki's Ramayana.

His deep attachment to Ramayana is noticed in his exploring the subtle philosophic and devotional discourse contained in the epic.

Vivekananda referred to this epic poem on many occasions where he emphasised, and highlighted the essence of universal philosophical thought as illustrated through different noble characterisations.

Swami Vivekananda portrays Ramachandra as a great philosopher of renunciation. From the throne came the voice that always cried, 'Renounce'. This is the glorious past of the Aryan culture.

In fact, 'The Life of Rama', is all the more memorable because it glorifies the Upanisadic seed of renunciation that gradually developed into deeply rooted tree of Vedanta Philosophy.

Such is the greatness of Ramayana which is the temple of Brahman upholding all the truth in the glory of the Master (both Personal and Impersonal) force of the universe.

So says Vivekananda once, "I am never one with Rama (never once with Ishwara, the personal aspect of God), but I am one with Brahman, the impersonal, all pervading existence", (*Complete Works Of Swami Vivekananda*. Twelfth Edition, Vol. 4.p.235).

A vibrant humanist, Swami Vivekananda, while unravelling this ancient poem raises the credit of the ancient seer for incorporating such extensive consistency between mysticism and humanism. Self-knowledge, the goal of Vedanta, has these two movements of mysticism and humanism.

Mysticism is seeing God with eyes closed and the other is seeing the same God with eyes open. Mysticism is knowledge and humanism is intimate experience. The first without the second is sterile.

Ramayana harmonises humanism with the living realities and constraints of life and spells out the finer essence of humanism by upholding the eternal spirit of man. Humanity in the concrete is present before us in every expression of 'Nature'. So there is no necessity to seek strange gods. Humanism is one's virtue which is associated with one's duty.

Swami Vivekananda takes Ramachandra as a man of spirit and not a hero of war to support the clarion call of humanism in Vedanta Philosophy.

Interestingly, this humanistic support in the 'Divine Epic' made theologians worship Sri Ram as God incarnate, philosophers made him the philosophical Absolute, while materialists, condemning the above, appreciate the lyrical values of Ramayana.

The pessimistic view of life as depicted through several characters in the epic teaches us the art of detachment. Detachment is freedom. Freedom is attained by perfect unselfishness. This is called moral. This definition holds good in every system of ethics.

Ethical virtues are cultivated not for their own sake but to serve a higher end. Ethics is based upon metaphysics and is determined by

it. Moreover pleasure and sorrows are nothing but part of human existence.

Ramayana delineates the principles of dharma and righteous living and triumph over the forces of evil. *Dharma* in the form of Rama, personification of duty and harmony, triumphs over *adharma* in the form of Ravana, the personification of lust and ego.

There is salvation for all since we are all moving towards the same goal, but the journey becomes much easier and less tedious if we develop humane qualities. We are searching for God, the eternal dwelling spirit in every existence- '*Tattvamasi*' without much success, but if we can develop love, compassion and unselfishness, we would immediately feel a divine spark in ourselves. This *mahavakya*, the fundamental teaching of the Upanishads equates the finite self (addressed here as 'Tvam' or Thou) with the Supreme Reality referred to as *Tat* or *That*. The Upanishads also reflect that finite self attains liberation when he realizes that he is none other than Brahman. Swami Vivekananda being an Advaitin agrees that we are all moving towards perfection, the only difference is that some are moving consciously while others unconsciously. Since the meaning of Brahman is not easy to grasp he depicts that the characterisation of Ramachandra symbolises the very essence of the Upanishadic concept of *amrtasya putra* (immortality) and taking this character the embodiment of all divinity we ordinary human beings can proceed in our journey of being '*Aham Brahmasmi*.'

(18)

Eka-Nishytha or devotion is the most forceful way to reach the Lord of Shri- the knowledge of all Vedas observes Swami Vivekananda, the committed theologian.

We must say like Hanuman in Ramayana, "Though I know that the Lord of Shri and the Lord of Janaki are both manifestations of the same Supreme Being, yet my all in all is the lotus-eyed Rama." Thus will the true devotee realise that He who was his own ideal in life is worshipped in all ideals by all sects, under all names, and through all forms.

In fact, Ramayana bears the philosophical touch which regards the interpretation of human experience as the primary concern and

puts belief in the adequacy of human knowledge. Again the aim of human life is to realise the true divine nature.

As a natural consequence of this the person should be able to render selfless service to enrich the world of values and to effect the welfare of all from the manifestation of one's divinity. This metaphysical truth is the reason behind of being rationalising the epic forever.

The apex of all models of life....Rama's ideal personality of other, more or less, ideal characters incarnating variegated ideals of life: ideal of wifely devotion, brotherly love, parental love, dedicated service, etc.

The characters highlight the rich wealth of the psyche of life and not with ideals alone. It is obvious that a continuity of the Ramayana-tradition on global culture and in the literary field is clearly noticed.

It never stopped and still acting as the *Sanjivani Sudha* (elixir of life) in holding up the universal human values in every sphere of life.



New India has to be built upon Indian traditions

- *Swami Vivekanand*

We must grow according to our nature. Vain is it to attempt the lines of action that foreign societies have engrafted upon us; it is impossible.... I do not condemn the institutions of other races; they are good for them, but not for us. What is meat for them may be poison for us. This is the first lesson to learn. With other sciences, other institutions, and other traditions behind them, they have got their present system. We, with our traditions, with thousands of years of *karma* behind us, naturally can only follow our own bent, run in own grooves; and that we shall have to do.

सुभाष जयन्ती 23 जनवरी



नेताजी सुभाष चन्द्र बसु

अद्वितीय स्वातंत्र्य योद्धा

(जन्म 23 जनवरी 1898)

– शशांक शेखर बसु

(19)

1945 में ताइपेह की विमान दुर्घटना में नेताजी सुभाष बसु की मृत्यु एवं टोक्यो जापान स्थित रिनकोजी मन्दिर में रखी उनकी अस्थियों की सच्चाई जानने के लिए राजग सरकार द्वारा गठित मुखर्जी आयोग की रिपोर्ट आने के बाद एक बार फिर उसे उनके बारे में तरह-तरह के सवालों की झड़ी लग गई। पूर्वी उत्तर प्रदेश के बहुत से जवान अंग्रेजी फौज में ऐसे थे जो बाद में आजाद हिन्द फौज में शामिल हो गये थे। गाजीपुर, जौनपुर, आजमगढ़, मऊ व गोरखपुर के मुसलमानों की संख्या इनमें काफी थी। विदित हो कि भारतीय हिन्दी चल-चित्र जगत के जाने-माने चरित्र अभिनेता पूर्वी उत्तर प्रदेश निवासी श्री नाजिर हुसैन भी आजाद हिन्द फौज के सिपाही रहे थे। इनके साक्ष्यों के आधार पर तरह-तरह के तथ्य सामने आए लेकिन अंतिम क्षणों का प्रामाणिक विवरण अलभ्य रहा। मुखर्जी आयोग के पूर्व भी खोसला एवं शाहनवाज कमीशनों ने भी विमान दुर्घटना एवं मृत्यु की सच्चाई उजागर की थी। परन्तु मुखर्जी ने साक्ष्य के आधार पर तार्किक निर्णय लेते हुए पुरानी रिपोर्ट को गलत बताया।

नेताजी सुभाष चन्द्र का जीवन एक खुली पुस्तक है। छात्र जीवन में अंग्रेज अध्यापक के खिलाफ विद्रोह। घर से निकलकर हिमालय की वादियों में साधु-सन्तों के बीच अध्यात्म की खोज। लंदन से भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा में चौथे स्थान पर उत्तीर्ण होकर नौकरी प्राप्त होने पर भी भारत आकर इस्तीफा। गांधी जी से भेंट और उनकी सलाह पर देशबन्धु चितरंजन दास के नेतृत्व में बंगाल कांग्रेस का कार्य। मुखपत्र का सम्पादन। कलकत्ता के मेयर। कई बार जेल। बर्मा मांडला में कारावास। देश से निष्कासन। कांग्रेस अध्यक्ष। कांग्रेस अध्यक्ष पद के दोबारा चुनाव में गांधी जी को चुनौती एवं जीत। योजना आयोग का गठन कर जवाहर लाल जी का उसके अध्यक्ष के रूप में मनोनयन। डॉ. कोटनीस के नेतृत्व में चीन में चिकित्सकों का दल भेजना। देश से महानिष्क्रमण-अफगानिस्तान, रूस होते हुए इटली और जर्मनी गमन। वहां हिटलर ओर मुसोलीनी से भेंट कर भारतीय स्वतंत्रता का आश्वासन। आजाद हिन्द फौज का गठन। भारत को स्वतन्त्र घोषित कर अण्डमान निकोबार द्वीप को

स्वराजद्वीप नाम देकर भारतीय स्वतन्त्र सरकार का गठन। फिर जापान के आत्म समर्पण के बाद भारत के पूर्वोत्तर इम्फाल तक आकर वापसी और फिर अन्तर्धान। ऐसा रोमांचक संघर्ष पूर्ण जीवन केवल 47 वर्ष की उम्र में शायद ही किसी अन्य भारतीय स्वतंत्रता सेनानी का रहा हो।

मेरे पिता श्री तरुण कांति बसु ने बातचीत के दौरान बतलाया कि नेताजी सुभाष के भतीजे स्व. डॉ. शिशिर बसु (परिवार में जो उनके सबसे प्रिय थे तथा जिन्होंने उनके महानिष्क्रमण में महत्वपूर्ण भूमिका भी निभाई थी) और उनकी पत्नी सांसद कृष्णा बसु से कुछ वर्ष पूर्व उनके दिल्ली निवास पर उनकी बात हुई थी। उन्होंने भी विमान दुर्घटना में नेताजी की मृत्यु की ही पुष्टि की थी। कुछ लोग तो नेताजी के विवाह और उनकी कन्या के बारे में भी सन्देह प्रकट करते हैं पर उन्होंने स्वयं पत्र द्वारा अपनी भाभी अर्थात् शरत् चन्द्र बसु की पत्नी से इसकी पुष्टि की थी।

नेताजी सुभाष से वाराणसी का भी गहरा जुड़ाव था। वहां वे तीन बार आये थे। एक बार वे आये और गये-कहीं ठहरे नहीं। बाद में आये तो एक बार लंका स्थित शिवप्रसाद गुप्त के सेवा-उपवन वाले घर में तथा दूसरी बार मेरे पूर्वजों के निवास स्थान चौखम्भा स्थित बंगाली ड्योढ़ी में अपने मौसा जी अर्थात् मेरे बड़े दादा और बनारस कांग्रेस के संस्थापकों में एक उपेन्द्रनाथ बसु के पास ठहरे थे। वाराणसी में उनके राजनैतिक सहयोगियों में क्रान्तिकारी रामगति गांगुली, कांग्रेस के कैण्ट विधान सभा सदस्य श्री लाल बहादुर सिंह एवं मेरे चाचा स्वतंत्रता संग्राम सेनानी एवं सन् 1942 भारत छोड़ो आन्दोलन के समय के डिक्टेटर श्री सत्येन्द्र कुमार बसु प्रमुख थे। राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्दर युवाओं को अलग मंच प्रदान करने के लिए भारत नौजवान सभा का गठन किया गया था। संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर-प्रदेश) के मथुरा में हुए प्रथम कांग्रेस का सभापतित्व 1931 में नेताजी सुभाष ने किया था। कांग्रेस अधिवेशन में प्रदेश के विभिन्न वस्तुओं की प्रदर्शनी और विक्रय के लिए स्टाल लगाये गये थे। उस प्रदर्शनी में उम्दा बनारसी पान बनाने के लिए स्टाल लगाये बनारस के पान विक्रेता हरिशचन्द्र देव नारायण को नेताजी सुभाष ने हिन्दी में हस्ताक्षर युक्त प्रमाण-पत्र प्रदान किया था। सूरजकुण्ड परिवार की गोदौलिया चौराहे पर उनकी पान की दुकान थी।

अनेक धर्मों, भाषाओं और जातियों में बंटे भारतीय समाज को एकता के सूत्र में पिरोकर आजादी की लड़ाई में “तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा” के नारे के डिम-डिम घोष के साथ-‘दिल्ली चलो’ पुकार के, तिरंगा लाल किले पे गाड़ के-गीत गाते हुए हजारों नौजवानों ने उनके आह्वान पर अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। ऐसे वीर महापुरुष की मृत्यु वीरोचित रूप से हुई, यह बात मानी जानी चाहिए। आत्म सम्मानी वीर कभी जीते जी दुश्मन के हाथ जीवित पकड़ा जाना नहीं चाहते हैं। भारतीय इतिहास इसका गवाह है। □

हिन्दू संस्कृति

— महेश चन्द्र शर्मा

हिन्दू संस्कृति विश्व में उदारवादी दृष्टिकोण के कारण आदर्श मानी जाती है। संस्कृति मनुष्य का वह गुण है जिससे वह अपनी आंतरिक उन्नति करता है, दया, माया और परोपकार, सत्य, प्रकृति प्रेम, अहिंसा, प्रेम, मोक्ष, गीत-संगीत, कविता, चित्र और मूर्ति से आनन्द लेने की योग्यता हासिल करता है। हमने हिन्दू संस्कृति और धर्म वेदों से प्राप्त किया है।

(20)

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार, वेद अनादि और अनंत है। स्वामी जी के अनुसार वेद का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्त्वों का संचित कोष।

जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य-जाति उसे भूल भी जाय तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत को चलाने वाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करने वाले ‘ऋषि’ कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व को पहुंची हुई विभूति जानकर सम्मान देते हैं। वेद हमें सिखाते हैं कि सृष्टि का न आदि है, न अन्त।

संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जब दो देशों या जातियों के लोग आपस में मिलते हैं तब उन दोनों की संस्कृतियां एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। भारत का नाम बहुत ही आदर के साथ लिया जाता है, क्योंकि वहां के लोग संस्कृति के मामले में बड़े उदार रहे हैं। यही नहीं, बल्कि हम जिसे अपनी संस्कृति कहते हैं वह एक जाति या कुछ थोड़े-से लोगों की संस्कृति नहीं है, बहुत पुराने समय से जो अनेक जातियां इस देश में आती रही है उन सबकी संस्कृतियों के प्रभाव भारतीय संस्कृति पर पड़ते रहे हैं और उन्हीं प्रभावों को ठीक से अपने भीतर आत्मसात करके हमारी संस्कृति इतनी विशाल और उदार हो गई है कि आज वह सारी दुनिया की संस्कृति का आदर्श बन गई है। संस्कृति इन सबसे कहीं सूक्ष्म वस्तु है। वह गाड़ी नहीं, गाड़ी बनाने की कला है; घर हीं घर बनाने की कला व रुचि है। अच्छे भोजन का सामान हम सभ्यता के जरिये पैदा करते हैं, लेकिन, जिस ढंग से

हम भोजन तैयार करते हैं और जिस कला से हम उसे खाते हैं वह हमारी संस्कृति कहलाती है। जिससे हम बनाते हैं उसे सभ्यता कहते हैं। संस्कृति धन नहीं, गुण है। संस्कृति टाट-बाट नहीं, विनय और विनम्रता है।

संस्कृति आमतौर से दिखलाई नहीं देती; सभ्यता प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती है वस्त्रों का पहनना, सहना और उसमें सुधार सभ्यता है जैसे आदिकाल के मानव और आज के मानव जीवन में सुधार हुआ है, सभ्यता का विकास है। पर संस्कृति बहुत ही सूक्ष्म और महीन चीज और वह हमारी हर पसन्द, हर आदत और चरित्र में छिपी रहती है।

भारतीय संस्कृति का जब-जब किसी विदेशी संस्कृति से मिलन हुआ, तब-तब हमारी संस्कृति में एक ताजगी आ गई। हमने अपने पुराने रीति रिवाजों, पर्वों और आदर्शों को सुरक्षित रखते हुये विदेशी शक, हूणों, यवनों, इसाई धर्मावलम्बियों को अपने में समाहित किया। पर हम अपने ऋषियों द्वारा दिये हुये ज्ञान, विज्ञान और बुद्धिवाद जिसे हम परतन्त्रता और अज्ञानता के कारण वेदों और ऋषियों द्वारा दिये हुये ज्ञान, विज्ञान और बुद्धिवाद को भूल गये हैं जिसका दूसरों (विदेशियों) ने लाभ उठाया और वे आगे बढ़ गये और फिर वही ज्ञान अब हमें मिल रहा है। 1893 में लगभग 180 वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द जी इसी उदार संस्कृति और वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को विश्व धर्म सम्मेलन में बताया था, देश का गौरव गान किया था। साथ ही साथ वर्तमान स्वरूप में प्रकट हुई हिन्दू संस्कृति को स्वामी विवेकानन्द ने पुनः जागृत किया जिसे हमें सदैव स्मरण करना चाहिए। □

आत्मत्याग

आत्मत्याग का अर्थ है—मिथ्या आत्मा या 'व्यक्तित्व' का त्याग, सब प्रकार की स्वार्थपरता का त्याग। यह अहंकार और ममता पूर्व कुसंस्कारों के फल हैं और जितना ही इस 'व्यक्तित्व' का त्याग होता जाता है उतनी ही आत्मा अपने नित्य स्वरूप में, अपनी पूर्ण महिमा में अभिव्यक्त होती है। यही वास्तविक आत्मत्याग है।

सर्वोच्च आदर्श है—चिरंतन और संपूर्ण आत्मत्याग, जिसमें किसी प्रकार का 'मैं' नहीं, केवल 'तू' ही 'तू' है।

स्वामी विवेकानन्द

बढ़ती जनसंख्या की दुशवारियां और निदान

— ऋतु सारस्वत

हाल ही में प्रकाशित वर्ष 2011 की जनगणना के आंकड़े कहीं आश्चर्य करते हैं तो कई जगहों पर चुनौतियों को पार करने की चिंता भी जताते हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह दृष्टिगोचर हुई है कि आबादी विस्तार की दर में नब्बे साल बाद पहली बार कमी देखने को मिली है। परंतु चिंता का विषय है कि जनसंख्या के मामले में भारत 134 करोड़ की सर्वाधिक जनसंख्या वाले चीन के करीब पहुंच गया है। अमरीकी एजेंसी पॉपुलेशन रेफरेंस ब्यूरो के अनुसार सन् 2050 में भारत जनसंख्या के मामले में चीन को पीछे छोड़ते हुए विश्व में सर्वाधिक 162.8 करोड़ हो जाएगी। किसी भी देश की जनसंख्या उसकी पूंजी होती है। इसलिए जनसंख्या के उपयुक्त आकार और श्रेष्ठ गुणात्मक विशेषताओं के आधार पर ही किसी देश का विकास निर्भर करता है और इस संदर्भ में भारत की स्थिति बेहद चिंताजनक रूप धारण कर चुकी है। 2005 में जनसंख्या घनत्व 345 व्यक्ति प्रति कि.मी. था जो 2025 में बढ़कर 440 हो जाएगा। इस बढ़ती जनसंख्या ने भारत के विकास को धीमा कर दिया है एवं समय के साथ-साथ, यहां संसाधनों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता घट रही है।

(21)

अधिक जनसंख्या से भूमि पर लगातार दबाव बढ़ रहा है वहीं दूसरी ओर दुर्लभ संसाधनों का अधिक दोहन हो रहा है। इतनी बड़ी आबादी का भरण-पोषण करना कठिन है। सन् 1980-81 में जहां प्रतिव्यक्ति कृषि 0.27 हेक्टेयर थी, वहीं सन् 2004-05 तक यह घटकर 0.17 हेक्टेयर हो गई। मॉल्थस का सिद्धांत कहता है कि पृथ्वी की पोषण क्षमता सीमित है, अतः प्राकृतिक परिस्थितियों के पुनर्भरण की क्षमता के मध्य इसका संतुलित उपभोग करने पर ही पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों को टिकाऊ रखा जा सकता है। बढ़ती हुई आबादी की जरूरत को पूरा करने के लिए देश में खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाना पड़ेगा। सन् 2000 तक जहां 20 करोड़ टन अनाज का उत्पादन होता था, वहीं 2020 तक 36 करोड़ टन अनाज की आवश्यकता पड़ेगी। इंडियन काउंसिल फॉर रिसर्च ऑन इंटरनेशनल रिलेशन का कहना है कि भारत में खाद्यान्न की उत्पादकता घटने, ग्लोबल वॉर्मिंग के बढ़ने, मानसून की कमी की आशंका, बायो डीजल के लिए अनाज का उपयोग और मोटे अनाज के इस्तेमाल को बढ़ावा न देने के कारण 2011 के बाद देश में सभी के लिए भोजन जुटाना गंभीर समस्या हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन (यूएनएफएओ) की रिपोर्ट

के अनुसार भारत में आम आदमी के पास पर्याप्त खाद्यान्न न होने के कारण भूख और कुपोषण की समस्या बढ़ती जा रही है। भारत में भूख और कुपोषण से प्रभावित लोगों की संख्या विश्व में सर्वाधिक 23 करोड़ 30 लाख है। देश की आबादी प्रतिवर्ष 1.5 करोड़ की दर से बढ़ रही है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के सर्वे के अनुसार देश की दो-तिहाई शहरी आबादी को 2030 तक शुद्ध पेयजल प्राप्त न हो सकेगा। वर्तमान में पानी की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता 1,525 घनमीटर है वहीं 2,030 में यह उपलब्धता मात्र 1,060 घनमीटर रह जाएगी।

आवास एवं शहरी गरीबी निवारण मंत्रालय के आंकड़ों के अनुसार देश में लगभग 2.47 करोड़ मकानों की कमी पाई गई है। पैसे खर्च करने के लिए तैयार होने के बावजूद लोग बिजली, ईंधन जैसी सुविधाएं प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। भारत में आज भी लगभग 40 प्रतिशत घरों में बिजली उपलब्ध नहीं है। इसका स्वाभाविक सा कारण है कि जिस गति से जनसंख्या बढ़ी है अर्थात् बिजली की मांग बढ़ी है उस गति से बिजली उत्पादित करने वाले संसाधन नहीं बढ़े हैं। यह अनुपलब्धता सिर्फ रोशनी तक सीमित हो, ऐसा नहीं है। आज भी भारत में लगभग 2 करोड़ व्यक्ति खुले में खाना बनाते हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन का निष्कर्ष है कि देश की अधिकांश रिहायशी इकाइयों में बुनियादी सुविधाओं की कमी के कारण आराम एवं सुख की जगह परेशानी एवं तनाव की स्थितियां दिखाई देती हैं। स्थिति तो यह है कि शहरों में मकानों की कमी के कारण मलिन बस्तियां वर्ष-प्रतिवर्ष तेजी से बढ़ती जा रही हैं। विश्व की सबसे अधिक मलिन बस्तियां भारत में हैं। नवीनतम आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2009 में देश में 400 छोटे-बड़े शहरों में रहने वाले 30 करोड़ लोगों में से छह करोड़ से अधिक लोग 52 हजार मलिन बस्तियों में रहते हैं।

बढ़ती जनसंख्या से वनों की संख्या में लगातार कटौती हो रही है और प्रदूषण बढ़ रहा है। जंगलों को विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काटा जा रहा है जिससे करीब एक प्रतिशत क्षेत्रफल हर साल रेगिस्तान में तब्दील हो रहा है। ईंधन के तौर पर लकड़ी के अधिकाधिक प्रयोग का परिणाम ही है कि मिट्टी की नमी में लगातार कमी होती जा रही है और भूजल स्तर तेजी से गिर रहा है। यह जनसंख्या का लगातार बढ़ता भार ही है जिसने पर्यावरण को इस सीमा तक नुकसान पहुंचाया है कि हर साल लगभग सौ जिले सूखा झेलते हैं।

जनसंख्या और विकास आपस में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह संभव है कि विभिन्न मार्गों को खोजकर उपलब्ध संसाधनों से ही लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके परंतु सुरसा के मुंह की तरह बढ़ती जनसंख्या यदि नहीं थमी तो भारत

जनसंख्या के बोझ तले दब जाएगा। जनसंख्या की गति तो तभी थम सकती है जब आम जनता जनसंख्या में चिंताजनक वृद्धि के दुष्परिणामों को समझे। संसाधन सीमित हैं, उन्हें एक सीमा तक ही बढ़ाया जा सकता है। भारत आज से वर्षों पूर्व किए गए उस सिद्धांत का वाहक बन गया है जोकि माल्थस ने प्रतिपादित किया था जिसके अनुसार जनसंख्या गुणोत्तर क्रम में (1,2,4,8,16...) बढ़ती है लेकिन व्यक्ति को संतुष्ट करने के साधन समांतर क्रम में (1,2,3,4,5...) ही बढ़ पाते हैं। इसी स्थिति में यह जन-जन के लिए आवश्यक है कि हमारे पास जो भी संसाधन उपलब्ध हैं उनका उचित दोहन हो। जनसंख्या उपलब्ध हैं उनका उचित दोहन हो।

(22)

जनसंख्या की तीव्र गति को रोकने एवं संबंधित दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाने हेतु 11 मई, 2000 को राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग का गठन किया गया। इसका उद्देश्य जनसंख्या स्थितीकरण के लिए समग्र मार्गदर्शन प्रदान करता था, जिसके लिए जनसांख्यिकी, शैक्षिक, पर्यावरण और विकास कार्यक्रमों में तालमेल को बढ़ावा देना था। राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग ने राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के क्रियान्वयन के लिए कई कदम उठाए हैं जिनमें राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम की विशेषकर उच्च प्रजनन राज्यों में समीक्षा करना, उच्च प्रजनन जिलों की पहचान और जिला कार्य योजनाएं तैयार करना, जनसंख्या स्थितीकरण के लिए नीति प्रधानता वाले प्रासंगिक अनुसंधान को बढ़ावा देना शामिल हैं। योजना की व्यापक बहुक्षेत्रीय समन्वयन को सुनिश्चित करने तथा स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण की योजनाओं को लागू करने के लिए राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग का मई 2005 को पुनर्गठन किया गया। जनसंख्या की वृद्धि को शून्य के स्तर पर पहुंचाने के लिए परिवार कल्याण कार्यक्रम में स्वैच्छिक आधार पर नियोजित परिवार को बढ़ावा देना आवश्यक है। भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम महिला केन्द्रित है। पुरुषों की परिवार नियोजन के स्थायी तरीके अपनाने में दिलचस्पी न होने से महिलाएं परिवार नियोजन के स्थायी तरीके अपनाने पर मजबूर होती हैं। महिलाओं के साथ भेदभाव और इसकी सारी जिम्मेदारी थोपे जाने की प्रवृत्ति पर रोक लगनी चाहिए। जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रमों में सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक पहलुओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। महिलाओं को आर्थिक दृष्टि से अधिकतर संपन्न बनाना परिवार कल्याण कार्यक्रम का एक महत्वपूर्ण घटक हो सकता है।

देश का एक बड़ा वर्ग आज भी परिवार के बड़े आकार को अर्थ-अर्जन के तौर पर देखता है 'जितने हाथ उतना काम' इन पंक्तियों के ताने-बाने से निम्न आर्थिक वर्ग की संरचना गढ़ी हुई है। शिक्षा से दूर, यह वर्ग जहां एक ओर संतान को ईश्वरीय वरदान के रूप में देखता है वहीं दूसरी ओर उसे किंचित भी यह ज्ञान नहीं कि उनके

बड़े परिवार का आकार न केवल उनके आर्थिक एवं सामाजिक विकास को रोक रहा है बल्कि देश के लिए बोझ भी बन रहा है। ऐसी स्थिति में, एक ऐसी नीति की आवश्यकता है जहां अर्थ-अर्जन के रूप में अधिक संतान को जन्म देने वाले अभिभावकों को उनके आर्थिक सुदृढीकरण के लिए नवीन मार्ग उपलब्ध कराए जाएं। इस दिशा में छत्तीसगढ़ सरकार ने राज्य में छोटे परिवार को बढ़ावा देने के लिए गोल्डन और सिल्वर कार्ड के नाम से नयी योजना शुरू करने का फैसला किया है। योजना के तहत कार्डधारियों को राज्य में आर्थिक लाभ के अलावा, नौकरी में आरक्षण, आयु सीमा में छूट तथा सरकारी कर्मचारियों को अतिरिक्त वेतनवृद्धि प्राप्त होगी। इस योजना अगर वास्तविकता का रूप धारण करती है तो निस्संदेह इससे जनसंख्या की गति थमेगी। चूंकि देश का एक बड़ा वर्ग यह भी सोचता है कि उनके बच्चे उनका दायित्व है, उनके भरण-पोषण का दायित्व भी उनका है, तो इससे देश को क्या नुकसान? ऐसे में आवश्यकता है कि उनके इस भ्रम का तोड़ा जाए। इसका एक महत्वपूर्ण जरिया हो सकता है वृत्तचित्रों का निर्माण, जिसके माध्यम से बढ़ती जनसंख्या के दुष्प्रभावों को दर्शाया जाए। निश्चित तौर पर देश की अशिक्षित जनता पर इसका सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा और उनके चिंतन की दिशा बदलेगी।

सन् 2050 तक भारत की जनसंख्या 1.9 अरब हो जाएगी। भारत में जनसंख्या ऐसे में यह आवश्यक है कि हमारे पास जो संसाधन उपलब्ध हैं उनका उचित दोहन हो। हमारे लिए अति आवश्यक है कि जनसंख्या नियंत्रण के साथ-साथ उपलब्ध संसाधनों को बचाया जाए। किसी देश की जनसंख्या उसकी अर्थव्यवस्था और संसाधनों की उपलब्धता सीमाओं के भीतर रहनी चाहिए और अगर ऐसा न हो सके तो इसे कम से कम एक निश्चित स्तर पर स्थिर कर दिया जाना चाहिए ताकि आबादी का एक बड़ा हिस्सा जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं से वंचित न रह जाए। कभी हर मंच से सुनाई देने वाले जनसंख्या नियंत्रण के नारे अब यदा-कदा ही सुनाई देते हैं। इस समस्या की अनदेखी का सीधा अर्थ है उसके गंभीर परिणामों को आमंत्रित करना। इससे पहले कि महाशक्ति बनने का हमारा सपना समय से पहले ही जनसंख्या के दबाव से दम तोड़ दे, हमें जनसंख्या वृद्धि को थामने के लिए भगीरथ प्रयास करने की आवश्यकता है।



सुप्रीम कोर्ट और जनहित याचिकाएं

सुप्रीम कोर्ट ने एक फैसले में संजीदा नागरिक समूहों, गैरसरकारी संगठनों और सामाजिक कार्यकर्ताओं की तरफ से गरीबों और वंचितों के हक में दायर की जाने वाली जनहित याचिकाओं की सुनवाई को शीर्ष अदालत की न्यायिक सक्रियता करार देने वाले और न्यायिक दायरे के अतिक्रमण का हौवा खड़ा करने वाले वकीलों, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों की जमकर खिंचाई की है।

न्यायमूर्ति जी एस सिंघवी और एके गांगुली की खंडपीठ ने बारह जुलाई को एक फैसले में अप्रत्याशित रूप से तीखी टिप्पणी करते हुए कहा कि अभी तक अदालतों का इस्तेमाल सिर्फ अमीरों और साधन संपन्न लोगों के अधिकारों को न्यायसंगत ठहराने के लिया किया जाता रहा है। सिर्फ असरदार तबके के लोग अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए अदालतों का दरवाजा खटखटाने में सक्षम साबित हुए हैं। न्याय के दरवाजे का ताला खोलने वाली सोने की चाभी अभी तक सिर्फ अमीरों के ही पास है।

(23)

अदालत ने कहा कि अमीरों के हक में फैसले सुनाने पर उसकी जय-जयकार होती है। लेकिन जैसे ही किसी जनहित याचिका पर गरीबों के हक में फैसला होता है, कुछ लोग न्यायिक सक्रियता का हौवा दिखाते हुए नुक्ताचीनी शुरू कर देते हैं।

न्यायमूर्ति सिंघवी और न्यायमूर्ति गांगुली की खंडपीठ ने कहा कि जन सरोकारों वाली जनहित याचिकाओं को अस्वीकार करना शीर्ष अदालत के लिए अपने सवैधानिक कर्तव्य से विमुख होने के समान होगा। जनहित याचिकाओं की आलोचना करने वाले लोगों को शायद इस बात की समझ नहीं है कि अदालतें सिर्फ अमीरों, भूस्वामियों, पूंजीपतियों और उद्योगपतियों के लिए ही नहीं है। ये गरीबों, वंचितों, शोषितों और आधा पेट गुजारा करने वाले हमारे करोड़ों देशवासियों के लिए भी हैं।

शीर्ष अदालत ने ये टिप्पणी सीवर कर्मियों के अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे गैरसरकारी संगठन नेशनल कैंपेन फार डिग्नटी एंड राइट्स आफ सीवरेज एंड एलीड वर्कर्स की ओर से दायर एक जनहित याचिका पर फैसला सुनाते हुए की। इस संगठन ने अपनी याचिका में मैनहोल में फंसकर होने वाली सीवर कर्मियों की मौतों और उनकी दुर्दशा की तरफ सुप्रीम कोर्ट का ध्यान आकृष्ट किया था।

सुप्रीम कोर्ट ने अपने फैसले में सरकार को दो महीने के अंदर मैनहोल में फंसकर होने वाली दुर्घटनाओं की रोकथाम सुनिश्चित करने और सीवर कर्मियों को जरूरी साजोसामान व बेहतर कार्यसुविधाएं मुहैया कराने के निर्देश दिए हैं।

वैदिक जीवन दृष्टि

अमेरिका में वेदों के दर्शन के प्रचार में लगे हुए स्वामी प्रबोध चैतन्य के आदि गुरु शंकराचार्य पर दिये गये व्याख्यानों को डा. प्रकाशवती शर्मा ने लिपिबद्ध किया था। इसको प्रथम भाग ज्ञानप्रभा के अक्टूबर-दिसम्बर अंक में दिया जा चुका है। नीचे द्वितीय एवं अंतिम भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

भगवान शंकराचार्य जी ने अपने निम्न पांच श्लोकों में इस सम्पूर्ण वैदिक जीवन शैली तथा जीवन दर्शन का साकार बिम्ब प्रस्तुत कर दिया है—जिसे 'साधना पंचकम्' कहते हैं।

(24)

वेदों नित्य मधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्
तेनेशस्य विधीयतां अपचितिः काम्येमतिस्त्यजताम्
पापोध परिधूपयतां, भवसुखेदोषोनु संधीयताम्
आत्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात् तूर्णविनिर्गम्यताम्

वेदों का नित्य अध्ययन करें, यह पहला विधान है। सर्वप्रथम हम शब्दों से परिचित होते हैं, फिर उसका पूरा संदेश (message) समझते हैं और फिर उसके पीछे जो दृष्टि है वह समझ में आती है। सर्वप्रथम बालक गुरु के पास वेदाध्ययन करने के लिए जाता था। आयु का यह भाग वेदाध्ययन के लिये है। बाल मन में संस्कार शीघ्र और गहरे पड़ते हैं, मेधा शक्ति भी अधिक होती है अतः स्मरण करने में सुविधा होती है। यह ब्रह्मचर्य आश्रम है जिसमें आगे के सम्पूर्ण जीवन की सुदृढ़ नींव पड़ती है। यम तथा नियमों का पालन विद्यार्थी जीवन की प्रथम आवश्यकता है। यम-अर्थात् सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का पालन विद्यार्थी/ब्रह्मचारी से कायिक वाचिक एवं मानसिक तीनों स्तरों पर कठोरता से करना अपेक्षित था। ये अनुशासन व्यक्ति के समाज के साथ या कहे 'पर' के साथ व्यवहार को संस्कारित एवं मर्यादित करते हैं। सत्य का आदर्श है-प्रिय हो, हितकारी हो, अनुद्वेग कारी हो तथा सत्य हो। (गीता)

इसी प्रकार अन्य चारों अनुशासन भी कायिक वाचिक एवं मानसिक तीनों स्तरों पर पालन किये जाने का विधान है।

नियम-शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्राणिधान। ये नियम सीधे स्व के विकास के साधन भूत हैं। शौच अर्थात् शुचिता (बुद्धि को विकेषों, से बचाती है, श्रवण

अदालत ने कहा कि इस फैसले का अभिप्राय कुछ तबकों में इस तरह की भ्रातियों को दूर करना है कि सरकार, सरकारी तंत्र, सरकारी एजेंसियों और सरकारी क्रियाकलापों या सरकार की उदासीनता की मार झेल रहे लोगों की भलाई के लिए सामाजिक समूहों, कार्यकर्ताओं और गैरसरकारी संगठनों की तरफ से दायर जनहित याचिकाओं को सुनवाई के लिए मंजूर कर शीर्ष अदालत अपनी अलिखित न्यायिक सीमाओं का उल्लंघन कर रही है। कुछ वकीलों, पत्रकारों और सार्वजनिक जीवन से जुड़े कुछ लोगों ने यह गलत धारणा बना ली है कि जनहित याचिकाओं को सुनवाई के लिए स्वीकार कर शीर्ष अदालत बेवजह अपना काम का बोझ बढ़ा रही हैं और इस वजह से पहले से ही लंबित मुकदमों की सूची और लंबी होती रही है, लिहाजा अदालत को ऐसी याचिकाओं को स्वीकार करने से बचना चाहिए। हमारी नजर में यह विकृत दृष्टिकोण है और इसमें आभिजात्य और यथास्थितिवादी रवैये की बू आती है।

शीर्ष अदालत ने सवाल किया कि अगर चीनी और शराब उद्योग से जुड़े पूंजीपतियों के पास धंधा करने और अपनी थैली भरने का बुनियादी अधिकार है तो समाज के सबसे निचले हिस्से से ताल्लुक रखने वाले एक सफाई कामगार के पास मेहनत और ईमानदारी से रोटी कमाने का अधिकार क्यों नहीं है।

चीनी या शराब व्यवसायी के मुनाफा कमाने के रास्ते में कोई अड़चन आई तो अपने मौलिक अधिकारों की आड़ में वह तुरंत अदालत पहुंच जाता है जहां मोटी फीस लेने वाले वकीलों की फौज उसकी पैरवी करती है। फैसला उसके हक में हुआ तो शीर्ष अदालत की निर्भीकता, साहस और स्वतंत्र दृष्टिकोण की तारीफ की जाती है। वहीं जनहित याचिकाओं की मार्फत जब गरीबों और असहाय लोगों के साथ होने वाली नाइंसाफी का मुद्दा उठाया जाता है तो कुछ लोगों की भृकुटी तन जाती है। उन्हें लगता है कि यह समय की बर्बादी है और शीर्ष अदालत को इन छोटे-मोटे मामलों में खुद को नहीं उलझाना चाहिए। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह है कि शीर्ष अदालत गरीबों और अशिक्षा का दंश झेल रहे लोगों के समानता के अधिकार सुनिश्चित करने के लिए जैसे ही कोई न्यायिक दिशानिर्देश जारी करती है, समाज के कुछ हिस्सों में न्यायिक सक्रियता और न्यायिक अधिकार क्षेत्र के अतिक्रमण का हौवा उठाते हुए सैद्धांतिक बहस शुरू करने की कोशिशें शुरू हो जाती हैं। खंडपीठ ने कहा कि कानून के राज का मतलब सिर्फ विशेषाधिकार या साधन संपन्न लोगों के हितों की रक्षा ही नहीं है। इसका मतलब नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की आड़ निहित स्वार्थों तत्वों के अधिकारों की रक्षा करना और यथास्थिति को कायम रखना भी नहीं है। गरीबों के भी नागरिक और राजनीतिक अधिकार हैं और कानून का राज उनके लिए भी है। जनहित याचिकाओं पर अपने रवैये को न्यायसंगत ठहराते हुए शीर्ष अदालत ने कहा कि संविधान का प्रस्तावना में वर्णित लक्ष्यों को हासिल करने के लिए देश की संसद और राज्यों की विधानसभाओं ने पिछले 63 सालों में कई कानून पास किए हैं। लेकिन इनके अमल में ढिलाई बरती गई एवं दलित लोगों तक इन कानूनों का लाभ नहीं पहुंचा है।

- संकलित

को शत-प्रतिशत फलदायी बनाती है) शरीर, वाणी एवं मन तीनों स्तरों पर चाहिये। सन्तोष नहीं होगा तो मन बहिर्मुखी रहेगा, समय अधिक व्यय होगा, अनावश्यक साधनों का संग्रह समाज के दूसरे वर्ग को उस सामग्री से, धन से वंचित करेगा, जो अन्यथा और लोगों के काम आती। किसी एक व्यक्ति के पास किसी वस्तु अथवा धन के आधिक्य से समाज के दूसरे वर्गों के मनुष्यों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होगी। फलस्वरूप समाज में असंतुलन होगा धन का। अतः पहली पंक्ति में ही विद्यार्थी जीवन हेतु साधना की दो कड़ियों-वेदाध्ययन तथा तदनुरूप कर्मों का अनुष्ठान अर्थात् आचरण इनका निर्देश कर दिया है आचार्य ने।

नित्य, नैमित्तिक, सामान्य वर्ष तथा विशेष धर्म-इनकी अनुपालना करते हुए इन्हें ईश्वरार्पित कर दें-‘तेने शस्य विधीयताम्’ तथा ‘काम्ये मतिस्त्यजताम्’-कामनाओं का इच्छाओं का त्याग कर दें-अगली पंक्ति में फिर दो कड़ी जुड़ गई हैं साधना की।

पुनः निषिद्ध कर्म न करें-‘पापोध परिधूयताम्’-समाज से, राष्ट्र से, प्रकृति से जितना लें उससे अधिक दें, प्रकृति का दोहन हो शोषण नहीं। ‘भवसुखे दोषोनु संधीयताम्’-सांसारिक सुखों के भोग से जो विकार, दोष, शरीर, मन, एवं बुद्धि के स्तर पर होते हैं उनके विषय में सोचेंगे तो भोग से वैराग्य आयेगा। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि सभी में दोष हैं, इन तथ्यों का अनुदर्शन अर्थात् बार-बार स्मरण करें, सोचें। अर्थ तथा काम अनित्य, अस्थायी और दुखमिश्रित सुख ही दे सकते हैं। धन, शक्ति, मान-सम्मान, प्रतिष्ठा पद सभी के अर्जन में, बनाये रखने में और अन्ततः जाने में दुख ही दुख है। एक सूत्र द्वारा इसे संक्षिप्त किया जा सकता है। AP अर्थात् association with pain

SAT अर्थात् Surely associated with temporaryness

DC अर्थात् Dependence causing factor

DG अर्थात् Dissatisfaction guaranteed

हमारे संतसाहित्य में भी इस आशय के पद मिलते हैं:

साँई इतना दीजिये जामें कटुम्ब समाये।

मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाये।।

और अन्तिम पंक्ति में कहा है-

आत्मेच्छा व्यवसीयताम्, निजगृहात् तूर्णम् विनिर्गम्यताम्

हम स्वयं में आत्मस्वरूप को जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न करें तथा जैसे ही, जिस क्षण/संसार से वैराग्य आये अपने गृह को शीघ्र त्याग दें।

दूसरा श्लोक है:

संगसत्सु विधीयतां भगवता, भक्तिदाधीयताम्
शान्त्यादि परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यताम्
सद्विद्वान् उपसृप्यताम् तदुदितं, तद्पादुका सेव्यताम्
ब्रम्हैकाक्षर मर्थ्यताम् श्रुतिशिरो, वाक्यं समा कर्णयताम्।

सत्संग नियमित लें, भगवत कथा सुने, शास्त्र पढ़ें, धर्म की कथाएँ सुनें। नये पौधे को जैसे प्रारम्भ में उस समय तक संरक्षण चाहिये जब तक वह विशाल वट वृक्ष न बन जाये। ‘रसरी आवत जात ते सिल पर परत निशान’ नित्य प्रति के सत्संग से पत्थर जैसी जड़ बुद्धि भी संस्कारवान हो सकती है। साथ ही भगवान में दृढ़ भक्ति चाहिए, भक्ति बुद्धि को एकाग्रता प्रदान करती है ‘शान्त्यादि परिचीयताम्, दृढतर कर्माशु संत्यज्यताम्’ यहां एक ओर जहां शम दम, उपरति तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान चाहिये जो (आत्मेच्छा मुमुक्षत्व) की पूर्व पीठिका कही जा सकती है, वहीं विवेक और वैराग्य भी उसी पूर्व पीठिका का अंग हैं जिसका स्पष्ट निर्देश आचार्य ने इस श्लोक में दिया है। यहां साधन चतुष्टय का समावेश अत्यन्त सहजता से इन श्लोकों में कर दिया है आचार्य ने। साधक के लिए मोक्ष ही सर्वोपरि प्राथमिकता होनी चाहिये, वह कुछ भी न करने का निर्देश है जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक न हो।

(25)

यहां हमें आभासित विसंगति दिखाई देती है। एक ओर तो शंकराचार्य जी स्वकर्म करने के लिये कह रहे हैं दूसरी ओर त्याग की आज्ञा दे रहे हैं।

परम्परा प्राप्त गुरु के पास उपसदन-सद्विद्वान् उपसृप्यताम् प्रतिदिनं तद्पादुका सेव्यताम्-विनम्रतापूर्वक, विद्वान् गुरु की सेवा करें-‘पादुका सेव्यताम् से यहां तात्पर्य-अपने अहं को विगलित कर, विनम्रतापूर्वक, सेवा से गुरु के हृदय को जीतना है जिससे गुरु शिष्य के बीच एक समरसता (Tunning) उत्पन्न हो सके। शिष्य गुरु के पास ज्ञान की पिपासा लेकर आये और गुरु शिष्य की योग्यता, विनम्रता और स्नेह से प्रभावित होकर अपनी सारी ज्ञान राशि उसे संभला दें। ‘ब्रम्हैकाक्षर मर्थ्यताम्’-श्रुतिशिरो, वाक्य समाकर्णयताम्-ॐ पर मनन करें। यह प्रणव उपासना है। श्रवण के लिये शान्त मन चाहिये-व्यस्थित रूप से वेदान्त का श्रवण करें। स्पंज की भांति श्रवण के द्वारा ज्ञान को अपने में सोखते रहें। निरन्तर व सुसंगत रूप से श्रवण प्रश्नों को स्वयं ही कम कर देगा। उत्तर उत्तरोत्तर श्रवण से स्वयं ही प्राप्त होते रहेंगे।

वाक्यार्थश्चविचारयतामश्रुतिशिरःपक्षःसमाश्रीयताम्
दुस्तरकात् सुविरम्यताम् श्रुतिमतस्यकोनुसंधीयताम्।
ब्रम्हास्मीति विभाव्यताम्अदूरहःगर्वःपरित्यजताम्

देहेहंमति रूभयतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्॥

पूर्व श्लोक में परम्परागत साधना का दूसरा पक्ष उपासना, भगवत भक्ति एवं तदर्थ महापुरुषों का सत्संग, एवं उनकी सेवा के साथ-साथ अन्तरंग साधना के प्रथम चरण 'श्रवण' का उल्लेख करके तीसरे श्लोक में साधना पथ पर आगे बढ़ते हुए अन्तरंग साधना के दूसरे सोपान मननम् का महत्व बता रहे हैं आचार्य यह कहकर कि जो कुछ श्रवण किया है, उसके अर्थ पर मनन करें, चिन्तन करें जिससे परस्पर प्रतीयमान विसंगति समाप्त हो सके।

प्रथम दो श्लोकों में वेद जीवन दृष्टि प्रस्तुत की है आचार्य ने यह बताते हुए कि निष्काम कर्म से आन्तरिक गुण विकसित कर निर्माल्य प्राप्त करें, निषिद्ध कर्म न करें जिससे हम जगत के अनित्यत्व, दुख प्रदत्व, निर्भरता आदि को स्वीकार करने लगते हैं। जिन्हें हम जानते समझते तो पहले भी हैं लेकिन स्वीकार नहीं करते थे और अब उन्हें स्वीकार करने लगते हैं। अतः अपने घर के सुख संरक्षण आदि में लिप्त न होकर सत्संग प्राप्ति हेतु 'निजगृहात् तूर्ण विनिर्गम्याताम् और फिर प्रभु में दृढ़ भक्ति के साथ-साथ शम दमादि षट सम्पत्ति विकसित करें, संचित करें अपने व्यक्तित्व में, गुरु उपसत्ति ढूँढें।

और तीसरे श्लोक में:

वाक्यार्थश्चविचार्यताम्-जो सुना है उस पर चिन्तन करें कहीं कोई विरोधाभास दिखाई दे तो उसका समाधान करने की चेष्टा करें, विचार प्रक्रिया द्वारा समन्वय करें। यदि कहीं वहां दोष दिखाई देता है, छिद्र दिखाई देता है तो वह छिद्र वहां नहीं हमारी दृष्टि में ही है उसे प्रयास पूर्वक हटायें।

त्वम् पद तथा तत् पद ऐक्य यही सम्पूर्ण उपनिषद साहित्य का प्रयोजन है जो चार महावाक्यों में समाया है। (1) प्रज्ञान ब्रम्ह, (2) तत् त्वम असि, (3) अहं ब्रम्हास्मि, (4) अयं आत्मा ब्रम्ह। इनमें से प्रथम महावाक्य में सत्य की परिभाषा दी गई है कि चैतन्य ही ब्रम्ह है, इसे लक्षण वाक्य कहा है। दूसरे महावाक्य को उपदेश वाक्य कहा है जिसमें गुरु शिष्य को कहता है 'वह तुम हो' तीसरा महावाक्य अनुभव वाक्य कहलाता है, जिसमें गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेश वाक्य को साधक शिष्य अपनी साधना से अनुभव के धरातल पर आत्मसात् कर कहता है मैं ही ब्रम्ह हूँ और अंतिम चौथा महावाक्य अनुसंधान वाक्य कहलाता है-अयं आत्मा ब्रम्ह। ये चारों महावाक्य चारों वेदों से लिये गये हैं।

प्रथम महावाक्य 'प्रज्ञान ब्रम्ह'-ऋग्वेद के ऐतरय उपनिषद से
द्वितीय महावाक्य 'तत्त्वम् असि'-सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद से

तृतीय महावाक्य 'अहं ब्रम्हास्मि यजुर्वेद' के वृहदारण्यक उपनिषद से तथा चतुर्थ महावाक्य 'अयं आत्मा ब्रम्ह'-अथर्ववेद के माण्डूक्य उपनिषद से लिया गया है।

श्रवण एवं मनन के बाद भी विपरीत भावना बनी रहे तो निदिध्यान चाहिये और उसी के लिये कहा है-

'श्रुति शिरः पक्षः समाश्रीयताम्'। ये सभी महावाक्य संयुक्त रूप से चिन्तन-मनन के उपरान्त मन को उस धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं जहां चिन्तन को व्याप्त देखने लगता है, उस चैतन्य को जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय सन्निहित है। यही साक्षी दृष्टा है शेष सभी तो दृश्य है।

'दुस्तरकात् सुविरम्यताम्'

कुतर्क का प्रयोग न करें। तर्क को किसी भी दर्शन ने स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है, वह भासमान विसंगतियों को दूर करने के सहायक साधन के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है। अहं ब्रम्हास्मि यह ज्ञान प्रत्यक्ष गम्य नहीं है और शेष चारों प्रमाण यथा अनुमान, उपमान अर्थापत्ति, अनुपलब्धि प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। केवल शब्द प्रमाण वह भी लौकिक नहीं, श्रुति शब्द प्रमाण ही एकमात्र प्रमाण है जो ब्रम्ह ज्ञान प्रदान करता है।

'श्रुतिमतः तर्कोनुसंधीयताम्-दूसरी ओर तर्क का एक वांछनीय रूप है संवाद। संवाद-जहां अधिक प्रकाश हो, ज्योति हो, ज्ञानवर्धन हो, और वितंडा-जहां अधिक ताप हो, गर्मी गर्मी हो। जहां भी तर्क का प्रयोग आपसी तनाव उत्पन्न करने लगे वहां वह अपने प्रयोजन से च्युत हो गया है, ऐसा समझना चाहिए।

'ब्रम्हा स्मीति विभाव्यताम्'।

सदैव 'अहं ब्रम्हास्मि' इस महावाक्य पर निदिध्यायासन करते रहें, यह सोते, उठते, बैठते, जागते हमारा अभ्यास बन जाना चाहिये-जिसे ब्रम्हम्यास कहा गया है।

'अहरहः गर्वः परित्यज्यताम्'

अभिमान को, अहंकार को पूर्णतया त्याग कर, विनम्र भाव विकसित करें, गुरु के समक्ष आप चींटी के समान हैं इसी विनीत भाव से, जिज्ञासु होकर उपस्थित हों। प्रश्न का उद्देश्य वास्तविक शंका समाधान होना चाहिये न कि छिद्रान्वेषण अथवा अपना अहंकार प्रदर्शन। छिद्रान्वेषण बन्द करें।

देहभाव का परित्याग करें-यह भाव अविस्मरणीय (देहेहंमतिरूभयतां बुध जनैः वादः परित्यज्यताम्) काल से, असंख्य जन्मों से, विभिन्न योनियों में होता हुआ पोषित होता रहा है। अतः अत्यन्त स्वाभाविक लगता है कि मैं देह हूँ, बुद्धि हूँ। किन्तु सच्चे साधक को मैं शरीर नहीं हूँ, मैं एक, अद्वैत, अखण्ड आत्मा हूँ इन भावों का आश्रय

लेना चाहिये। मनुष्य का शरीर परोपकार के लिये है, उसका उपयोग दूसरों की सेवा करने के लिये हो।

साथ ही हम तत्त्वदर्शी शास्त्रज्ञों के पास अपने हित साधन के लिये जाते हैं, हम उनके ऊपर कृपा नहीं करते हैं, वे हमें आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु उत्साहित कर कोई लाभ नहीं करते हैं, वे हमें आत्मज्ञान प्राप्ति हेतु उत्साहित कर कोई लाभ नहीं उठाते हैं, उसमें हमारा ही लाभ है। यह तो उनकी महती कृपा है कि वे हमें समझाने, उत्साहित करने और मार्गदर्शन करने का कष्ट उठाते हैं। अपने कुतर्कों द्वारा निरर्थक विवाद हमारी ज्ञान प्राप्ति में बाधक ही होगा, साधक नहीं। अतः उससे बचना चाहिये। वैसे भी बुद्धिमान-बुद्धिमान से तर्क नहीं करेगा, बुद्धिमान मूर्ख से भी तर्क नहीं करेगा। गुरु शिष्य के मध्य सार्थक संवाद होता है- वाद-विवाद नहीं।

चतुर्थ श्लोक में कहा है-

क्षुधव्याधिश्च चिकित्सयतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्।
स्वाद्गन् न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन संतुष्यताम्।
शीतोष्णादिविषहतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यताम्।
औदासीन्य मभीप्स्यतां जन कृपाः नैष्टुर्यं मृत्युज्यताम्।

भगवान् भाष्य कार आगे कहते हैं कि क्षुधा, अर्थात् भूखरूपी रोग की नित्यप्रति चिकित्सा-उपचार भिक्षा रूपी औषधि को खाकर करनी चाहिये। जिस प्रकार औषधि खाते समय उसके स्वाद की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, और न आवश्यकता से अधिक ही खाई जाती है, उसी प्रकार भोजन भी स्वाद के लिये नहीं अपितु शरीर पोषण के लिये तथा भूख को शान्त करने के लिये होना चाहिये। साथ ही भाग्य से जो कुछ प्राप्त हो जाये उसी से संतुष्ट रहना चाहिये।

गर्मी, सर्दी, सुख-दुख, लाभ-हानि, आदि द्वन्दों को सहन करने का अभ्यास डालना चाहिये उसके लिये स्वयं को मन से पृथक कर, आत्मस्वरूप में स्थित करने का अभ्यास करना चाहिये तथा अनावश्यक बोलने से बचना चाहिये-जिसे बोलने से हमारे परम लक्ष्य की प्राप्ति में कोई सहायता न मिले, वह बोलना मात्र वाचालता है।

साथ ही चारों ओर, तथा अपने जीवन में भी कितने ही उतार चढ़ाव आते हैं, उन सभी के प्रति उदासीनता का भाव ही रखें। दूसरों के दुख के प्रति संवेदनशील होना अच्छा है, उनकी सहायता करना भी उचित है किन्तु उससे अपना मानसिक संतुलन न बिगड़े, यह ध्यान भी यहां अपेक्षित है। राग-द्वेष से मुक्त रहें।

अन्य लोगों की राय के प्रति भी उदासीन रहें। अपनी तुलना अपने अतीत से

ही करें, दूसरों से नहीं। जनकृपा, दूसरे की कृपा स्वीकारने से राग उत्पन्न होगा और उसके विपरीत द्वेष होगा। दूसरे की कृपा स्वीकार करने से आप पर एक दबाव बनता है जो आपसे कभी अनुचित कार्य भी करवा सकता है और पक्षपात को भी बल मिलता है उससे।

अन्तिम श्लोक में कहा है-

एकान्ते सुखमास्यतां पर तरे चेतः समाधीयताम्।
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्वाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां, चित्बलान्नाप्युतरैः शिल्प्यताम्।
प्रारब्धत्विह भुज्यतामथ पर, ब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥

एकान्त में सुख का अनुभव करें-यहां एकान्त से तात्पर्य मात्र शरीर के स्तर पर एकान्त से नहीं है, एकान्त से यहां तात्पर्य निरन्तर केवल अपनी आत्मा के साथ रहना है, उसी के ध्यान में निमग्न रहना है, उसी के आनन्द में निमग्न रहना है।

देश-काल वस्तु अपरिच्छिन्न एक सत्य है और वह मैं हूं, न जीव है, न जगत है, न कारण है इस सृष्टि का और न यह सृष्टि है, कार्य-कारण विलक्षण एक ब्रह्म है और वह मैं हूं तुरीय, चतुर्थम्, अद्वैतम्, अवस्थात्रय विलक्षण, जगत मुझमें हैं। प्रत्येक विभक्ति मुझ में हैं।

(27)

ज्ञानाग्नि में सभी प्रारब्ध कर्म भस्मसात हो जायें। भूतकाल हमारे हाथ से निकल चुका होता है वर्तमान शुभ कर्मों द्वारा ही उनके प्रभाव को नष्ट किया जा सकता है। ज्ञान पूर्वक आगामी कर्मों से विरक्त रहें। कर्ता भोक्ता भाव जब नष्ट हो जाता है तो अहंवृत्ति नष्ट हो जाती है और तभी अनुभवकर्ता आगामी कर्मों से अनासक्त रहना सीख पाता है। हमारी सहमति और सहयोग के बिना कर्म हमें छू नहीं सकते। प्रारब्ध कर्मों के फल को धैर्य पूर्वक, तितिक्षा के साथ सहन करना चाहिये। दुःख परमात्मा औषधि रूप में दे रहा है इसी भाव से उन्हें स्वीकार करना चाहिये। तदुपरान्त ब्रह्मभाव में लीन रहें। यह ब्रह्मभाव अब समस्त कर्मों, भावों और विचारों में छा जाता है। यह व्यक्तित्व की पूर्णता है और उसी भाव से व्यावहारिक जीवन जीने की कला है। यह अनन्त असीम आनन्द ही जीवन मुक्ति है। □

सभी नीति-संहिताओं में एक ही भाव भिन्न-भिन्न रूप से प्रकाशित हुआ है और वह है-दूसरों का उपकार करना। मनुष्यों के प्रति, सारे प्राणियों के प्रति दया ही मानव जाति के समस्त सत्कर्मों का पथ-प्रदर्शक एवं प्रेरक है।

- स्वामी विवेकानन्द

उदात्त जीवन का आधार : संस्कार

– डॉ. धर्मवीर सेठी

संस्कृतः देवभाषाः संस्कारः देवभाषा ज्ञान का प्रतिफलः संस्कृतिः संस्कार का व्यावहारिक पक्ष और सांस्कृतिकः उस संस्कृति का मंचन। वस्तुतः ये सभी शब्द और भाव परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। यह वाक्य प्रायः सुनने को मिलता है कि 'अमुक बालक के व्यवहार को देखकर पता चलता है कि उसके माता-पिता ने उसे कितने अच्छे संस्कार दिये हैं'। बात सही है क्योंकि 'माता निर्माता भवति' –माँ ही तो श्रेष्ठ बालक का निर्माण करने वाली होती है। शिवाजी का प्रसंग आए तो जीजाबाई को अवश्य याद किया जाएगा। अभिमन्यु की घटना के साथ उसकी माँ सुभद्रा का स्मरण अनायास हो जाएगा। राष्ट्रीय अस्मिता को बचाने के लिए न्योछावर होने वाले वीर, धार्मिक क्षेत्र के धर्मगुरु, समाज कल्याण के लिए अग्रणी एवं अन्य युग-पुरुष जो भी रहे हों, उनके पीछे किसी न किसी रूप में मातृ-शक्ति की प्रेरणा रही है। शायद इसलिए वेदोक्त सोलह संस्कारों में प्रथम तीन संस्कार तो माँ की कोख से ही सम्बन्धित हैं; वहीं से उदात्त स्वभाव वाली सन्तान का निर्माण आरम्भ होता है।

यही आचरण की, संस्कार की पक्की नींव है। भवन (मानव देह) अपने आप आलीशान बनेगा और उसे 'सुसंस्कृत' की संज्ञा से अलंकृत भी किया जाएगा। महाभारत में मानव जन्म के महत्व को इन शब्दों में आंका गया है-

न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्

अर्थात् मनुष्य से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ है ही नहीं। महाकवि तुलसीदास ने तो यहां तक कह दिया-

बड़े भाग मानुष तन पावा।

सुर दुर्लभ सद ग्रन्थहिं गावा।।

मनुष्य जन्म अनेक पुण्यों का फल है। परा-शक्ति के बाद इन्सान ही जगत् का संचालक है।

इस दुर्लभ, अद्वितीय शरीर का निर्माण करने हेतु माँ का दायित्व और भी बढ़ जाता है। अस्तु! उन सोलह संस्कारों में प्रथम तीन अर्थात् **गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तकोनयन** तो बालक के गर्भावस्था में रहने पर ही सम्पन्न किये जाते हैं। माँ की सोच, उसके आचरण, खान-पान सबका प्रभाव कोख में पलने वाले बच्चे पर पड़ता है।

फिर होता है जन्म: **जातकर्म संस्कार**। यदि शास्त्रोक्त विधि से सभी संस्कार निष्पन्न हो तो बालक पर उसका सकारात्मक (Positive) प्रभाव पड़ता है। परन्तु खेद इस बात का है कि संस्कारों के मर्म को समझते का प्रयत्न ही नहीं किया जाता। पांचवां संस्कार है **नामकरण**। कितना सुन्दर विधान है इस संस्कार को मानने का। पिता बालक की नासिका द्वार से बाहर निकलती हुई वायु (श्वास) का स्पर्श करके पूछता है-

'कोऽसि, कतमोऽसि, कस्यासि, को नामासि'

अर्थात् तुम कौन हो, कहां से आए हो, किसके हो और तुम्हारा नाम क्या है? फिर उसे एक विशिष्ट नाम दिया जाता है। शास्त्र कहता है कि नाम सार्थक (Meaningful) होना चाहिए। नाम के अनुकूल यदि उसका आचरण भी हो, तो 'सोने पे सुहागा।'

(28)

सूची में छठा संस्कार है '**निष्क्रमण**' अर्थात् बालक को घर के बाहर जहां वायु, स्थान शुद्ध हो, वहां भ्रमण करना, घुमाना। वस्तुतः इससे होता है सूर्य की प्रथम रश्मियों से बालक का स्पर्श। '**अन्नप्राशन**' सातवां संस्कार है। जो बालक को अन्न पचाने की शक्ति के लिए किया जाता है।

'**चूड़ाकर्म**' अर्थात् प्रचलित '**मुण्डन**' संस्कार तदनन्तर आठवां संस्कार है। उत्तरायण काल, शुक्ल पक्ष में जिस दिन आनन्द-मंगल हो, उस दिन प्रायः संस्कार को करने का विधान है। बालक के लिए '**कर्णवेध**' संस्कार में कान और नासिका छिदवाने का विधान है जिसे जन्म से तीसरे या पांचवें वर्ष में सम्पन्न कराया गया है। '**ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा**' कितना सटीक मंत्र है।

और दसवाँ संस्कार है '**उपनयन**' जिसे '**यज्ञोपवीत**' संस्कार भी कहा जाता है। वस्तुतः इसके तीन धागे मातृ ऋण, पितृ ऋण और आचार्य ऋण की स्मृति को सदा बनाए रखते हैं। 'उप' अर्थात् समीप और 'नयन' अर्थात् होना या ले जाना। आचार्य के समीप अवस्थित रहना। इसलिए सम्भवतः इसके बाद का संस्कार है '**वेदारम्भ**'। वेद का अर्थात् ज्ञानोपार्जन का श्रीगणेश। ध्यान रहे ज्ञान की कोई सीमा नहीं। '**समावर्त्तन**' संस्कार में ब्रह्मचर्यव्रत, साङ्गोपांग वेदविद्या, उत्तम शिक्षा और पदार्थ-विज्ञान को पूर्ण रीति से प्राप्त कर गृहाश्रम को ग्रहण करने के लिए विद्यालय को छोड़ घर की ओर आना होता है।

तेरहवां संस्कार है '**विवाह संस्कार**'। इसे 'पाणि-ग्रहण' भी कहा जाता है। इस संस्कार का विशेष महत्व है क्योंकि 'संस्कारित' सन्तानें यहीं से पैदा होती है। ब्राह्मण और संन्यासी इन्हीं गृहस्थियों के द्वार पर ही आते हैं 'भिक्षां देहि' इन्हीं के द्वार पर

बोला जाता है। वस्तुतः गृहस्थाश्रम वालों का समाज के प्रति विशिष्ट दायित्व बन जाता है। पति-पत्नी का परस्पर समर्पण इस आश्रम को और सुदृढ़ बनाता है। 'Husband' हस्तबन्ध का ही पर्याय है।

फिर बारी आती है 'वानप्रस्थ' संस्कार की। इसे तीसरा आश्रम भी कहा जाता है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के बाद। विधान यह है कि जब पुत्र का भी पुत्र हो जावे अर्थात् जब गृहस्थी पौत्र वाला बन जाए तो उसे वन की ओर चलने की तैयारी करनी चाहिए। शास्त्र के अनुसार -

**ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥ -शतपथ ब्राह्मण**

X X X

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षामाप्नोति दक्षिणाम्।

दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ (यजुः 19/30)

50 से 75 वर्ष की आयु का काल वानप्रस्थ कहा जाता है। 'जीवेम् शरदः शतम्' के अनुसार चार आश्रम-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास 25, 25 वर्ष की अवधि के निर्धारित किये गये हैं। जब गृहस्थ वानप्रस्थ होने की इच्छा करे तब अग्नि-होत्र को सामग्री सहित लेकर ग्राम से निकल जंगल में जितेन्द्रिय होकर निवास करे-

अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।

ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः॥ (मनु.अ. 6)

क्या ही अच्छा हो कि परिवार में रहते हुए भी मुखिया वानप्रस्थ का जीवन व्यतीत करे।

पन्द्रहवां संस्कार है 'संन्यास' (संन्यास आश्रम) जिसमें संन्यासी के महत्वपूर्ण कर्तव्य की इस प्रकार विवेचना की गई है-

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान्निश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम॥ -यजुः 40/16

हे परमात्मदेव! मुझे सुपथ पर ले चलो। मैं बार-बार इसी की याचना करता हूँ।

और सोलह संस्कारों की संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त वानप्रस्थ संस्कार (आश्रम) पर थोड़ा और विचार करने की आवश्यकता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार व्यक्ति जब आयु में बड़ा होने लगता है तो उसे प्रौढ़ की संज्ञा दी जाती है। अंग्रेजी में इसका पर्याय है (Matured)। सरकार की ओर से आयु की दृष्टि से वरिष्ठ नागरिक (Senior Citizen) और (Maturity) दो अलग-अलग अवस्थाएँ हैं। जो आयु में वरिष्ठ हो उसमें

बड़प्पन भी हो यह आवश्यक नहीं और इसी प्रकार बड़प्पन के गुण को धारण करने वाला आयु में भी बड़ा हो, यह अनिवार्य नहीं।

फारसी में एक कहावत है -

बुजुर्गी ब अकल अस्त, न ब साला।

तवानगी ब उमर अस्त, न ब माला॥

Maturity is the outcome of intelligence and not years,

Seniority is because of age, not riches,

बड़ाप्पन में ही जीवन का सुख और आनन्द है।

प्रौढ़ संस्कार की बात करें तो उस व्यक्ति में Matured Person जैसा व्यवहार दिखना चाहिए न कि Seniority का। प्रौढ़ तो मार्ग दर्शक होता है, अपने अनुभवों के आधार पर वह समाज के हितार्थ कुछ कर गुजरने की चाह लिए रहता है। यदि उसे समाज और परिवार का सिरमौर कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। 'स्व' का त्याग और 'पर' की ओर बढ़ना ही प्रौढ़ता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को अपनाने से निराशा नहीं होगी।

संस्कृत में एक कहावत है-

न सा सभा यत्र सन्ति न वृद्धाः।

वृद्धाः न ते यो न वदन्ति धर्मम्॥

नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,

न तन् सत्यं चञ्चलेनाभ्युपेतम्॥ - महाभारत

अस्तु! प्रौढ़ व्यक्ति को सत्संग, स्वाध्याय, सेवा, परोपकार, दान आदि से अपने जीवन को सुखी, शान्त और सन्तुलित बनाना चाहिए इसी से जीवन में समरसता भी आएगी। निराशा दूर होगी और आत्मिक शक्ति बढ़ेगी। प्रौढ़ व्यक्ति का यही कर्तव्य पथ है-

संसार दुःख दलनेन सुभूषिता ये

धन्या नरा विहित कर्म परोपकाराः

इस लिए आइए। हम वरिष्ठ (Senior) न बनकर प्रौढ़ (Matured) बने। नर सेवा हमारी वरिष्ठता को प्रौढ़ता में परिवर्तित कर यह सीख देती है कि सेवा मात्र उपकार नहीं अपितु समाज के प्रति आभार व्यक्त करने का एक माध्यम है।

किसी शायर ने ठीक ही कहा है-

ये शामे जिन्दगी इसे हंस के गुजारिए।

रस्ता है बड़ा कठिन, मगर हिम्मत न हारिए॥





भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति मदन मोहन मालवीय

- कमल मालवीय

महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी महाराज भारतीयता की प्रतिमूर्ति थे। उनकी रग रग में राष्ट्र प्रेम की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे जीवन के अन्तिम क्षण तक हिन्दी, संस्कृत तथा हिन्दू धर्म के प्रचार व प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहे। भारत विभाजन के दौरान नौआरवली (पूर्वी बंगाल) में हिन्दुओं के साथ किए गए अमानुषिक अत्याचारों की पीड़ा में उन्होंने अपने प्राण त्याग दिए थे।

मालवीय जी का जन्म प्रयाग के अहियापुर मुहल्ले में 25 दिसम्बर 1861 को पं. वृजनाथ एवं श्रीमती मोगा देवी के परिवार में हुआ। वही पर एक मंदिर था, जिसे आज भी देखा जा सकता है। अहियापुर मुहल्ला अब मालवीय नगर के नाम से जाना जाता है। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा प्रयाग में पंडित हर देवशास्त्री की संस्कृत पाठशाला से प्रारम्भ हुई। वर्तमान में उन्हीं शास्त्री के नाम से प्रयाग में पाठशाला आज भी है। इसके पश्चात् 1884 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के बाद, पारिवारिक कारणों से वे एम.ए. में प्रवेश नहीं ले पाए। परिवार को आर्थिक सहयोग प्रदान करने की दृष्टि से वे एक विद्यालय में शिक्षक का कार्य करने लगे।

मालवीय जी का जन्म ऐसे परिवार में हुआ था, जिसमें सनातन धर्म का पालन श्रद्धा और भक्ति के साथ किया जाता था। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मालवीय जी का जो स्वरूप उभरा है, उसका निर्माण पितामह के समय से हो रहा था एवं उस पर बाहरी शिक्षा के प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने हिन्दू धर्म शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था।

सरकारी स्कूलों में धर्म शिक्षा के अभाव के पूर्ण करने के लिये उन्होंने धर्म शिक्षा के प्रचार के लिए अनवरत प्रयास किया। धर्म प्रचार के कार्य में उनके सब से पहले साथी पंडित दीन दयालु शर्मा थे जिन्होंने सन् 1885 में मथुरा से “मथुरा समाचार” नाम से पत्र निकाला था, जिसमें सनातन धर्म के सिद्धान्तों पर विश्लेषणात्मक लेख निकलते रहते थे।

महामना संस्कृत के उद्मत् विद्वान तथा उपनिषद् तथा पुराणों के प्रकांड पंडित थे। बचपन से ही राष्ट्रीय भावनाओं ने उन्हें प्रभावित किया तथा वे 1886 में कलकत्ता में हुए कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में शामिल हुए, वही उनका परिचय कालाकांकर (उ.प्र.) रियासत के राजा रामपाल सिंह से हुआ।

राजा साहब राष्ट्रीय विचार धारा के व्यक्ति थे तथा हिन्दी पत्रकारिता में उनकी काफी रूचि थी। उन्होंने हिन्दी तथा राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार के लिए “हिन्दुस्तान” पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया तो मालवीय जी को उसका सम्पादन करने की पेशकश की।

मालवीय जी ने “हिन्दुस्तान” का सम्पादन कार्य बखूबी किया। उनके सम्पादकीय लेख निर्भीक तथा राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत होते थे। इससे समाचार पत्र की प्रसार संख्या में काफी वृद्धि हुई और लोकप्रियता भी बढ़ी। उन्होंने हिन्दुस्तान, दी इंडियन, अभ्युदय, मर्यादा तथा लीडर आदि समाचार पत्रों का भी संपादन किया। उन्होंने हिन्दुस्तान टाइम्स का स्वामित्व प्राप्त कर अनेक वर्षों तक उसका प्रबन्धन किया। बाद में इसे सार्वजनिक व्यस्तताओं के कारण बिड़ला जी को दे दिया गया।

मदन मोहन मालवीय चाहते थे कि बनारस से इलाहाबाद तक ऐसे शिक्षण संस्थाओं की शृंखला हो जिसमें युवक युवतियां आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर सकें और अपने को भारत निर्माण के योग्य बना सकें। वे शिक्षा के माध्यम से भारत में परिवर्तन चाहते थे। उनका मत था कि आधुनिक शिक्षा की उपेक्षा के कारण ही भारत की दुर्दशा हुई है।

पंडित मदन मोहन मालवीय मैकाले की शिक्षा पद्धति के घोर विरोधी थे। उनके हृदय में यह उत्कृष्ट इच्छा थी कि मैकाले की शिक्षा पद्धति को समाप्त कर युवक युवतियों में राष्ट्रीयता की भावना प्रज्वलित की जाये। इस कार्य को मूर्तरूप देने के लिए उन्होंने एक विश्व विद्यालय की स्थापना का निश्चय किया।

विश्व विद्यालय खोलने के लिए उनको गंगातट के निकट का एक स्थान पसन्द आया। वह भूमि काशी नरेश की थी। पितृपक्ष के समय पंडित मदन मोहन मालवीय ने संकल्प करारकर वह भूमि काशी नरेश से प्राप्त कर ली।

4 फरवरी, 1916 को वसन्त पंचमी के दिन बनारस हिन्दू विश्व विद्यालय का श्री गणेश कर दिया गया। शिक्षण कार्य के लिए श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने बिना वेतन के शिक्षण करने का संकल्प लिया। इसके बाद मालवीय जी ने देश के सभी जाने माने महानुभावों से दान के लिए सम्पर्क किया। उनका अभियान इतना सफल हुआ

कि मालवीय जी भिक्षुक सम्राट् कहे जाने लगे। उस समय के सभी गणमान्य लोगों ने उन्होंने सहयोग प्राप्त किया। हैदराबाद के निजाम तक से भी वे दान लेने में सफल रहे। दरभंगा में उन्हें धन संग्रह हेतु श्रीमद् भागवत पुराण की कथा सुनानी पड़ी। उनकी प्रवचन शैली से प्रभावित होकर महाराज दरभंगा ने स्वयं 25 लाख रूपये दान में दिए तथा अन्य राजपरिवारों से दान दिलवाने के लिये साथ चल पड़े।

मालवीय जी हिन्दू समाज में प्रचलित छुआ छूत के प्रखर विरोधी थे। इसके लिए उन्होंने व्यापक प्रयास किए। उन्होंने समय-समय पर हिन्दू वर्ण व्यवस्था के चारों अंगों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के लिए सामूहिक दीक्षा कार्यक्रम का आयोजन किया। सन् 1927 में काशी में महाशिव रात्रि के दिन दशावाश्वमेध घाट पर उन्होंने सभी के लिए ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो नारायण आदि मन्त्रों की दीक्षा दी। दीक्षा पाने वालों में सभी जातियों के लोग शामिल थे। इसका कड़ा विरोध हुआ। अन्त में मालवीय जी की विजय हुई। इसके पश्चात् मालवीय जी ने कलकत्ता के लोहाघाट पर भी मंत्र दीक्षा का कार्य सम्पन्न किया।

मालवीय जी की दृष्टि अत्यन्त विशाल थी। वे सभी मानवों को समान समझते थे। उन्हें अपने स्वधर्म एवं परम्परा से असीम प्रेम था किन्तु वे अन्य लोगों के धर्म का भी समान भाव से सम्मान करते थे। उनकी विद्वता असाधारण थी। विनम्रता एवं शालीनता भी उनमें कूट कूट कर भरी थी।

मार्च सन् 1931 में कानपुर में हिन्दू मुसलमानों का दंगा हुआ। उसके तुरन्त बाद 11 अप्रैल सन् 1931 को कानपुर में आम सभा में भाषण में कहा कि मैं मनुष्यता का पूजक हूँ, मनुष्यता के आगे मैं जात-पात नहीं मानता। कानपुर में जो दंगा हुआ उसके लिए एक ही जाति जिम्मेदार नहीं है, जवाब देही दोनों पर है अतः आप से आग्रह है कि ऐसी प्रतिज्ञा कीजिये कि भविष्य में अपने भाईयों से युद्ध नहीं करेंगे।

1931 में गोलमेज कांफ्रेंस लन्दन में हुई तो मालवीय जी गांधी जी के साथ गए। वहां उन्होंने 13 अप्रैल, 1919 में हुए जलियावाला बाग (अमृतसर) के नरसंहार पर छः घन्टे तक धारा प्रवाह अंग्रेजी में भाषण दिया, जिसे सुनकर अंग्रेजों ने भी उनकी भाषण कला का लोहा माना मालवीय जी ने भारत की स्वतन्त्रता के लिए आजीवन संघर्ष किया परन्तु वे अपनी आंखों से इस दिन को नहीं देख सके। नौआखली (पूर्वी बंगाल) में हिन्दुओं पर भयानक अत्याचार को देखकर वे इतने दुखी हुए कि 12 नवम्बर, 1946 को उन्होंने प्राण त्याग दिये। उनका यश अमर रहेगा। वे एक युग निर्माता थे।



जीवन में मोहक रंग भरती होली

- ललित गर्ग

जिंदगी जब सारी खुशियाँ स्वयं में समेट कर प्रस्तुति का बहाना मांगती है तब प्रकृति मनुष्य को होली जैसा त्यौहार देती है। असल में होली बुराइयों के विरुद्ध उठा एक प्रयत्न है जिससे जिंदगी जीने का नया अंदाज मिलता है। आनंद और उल्लास के इस सबसे मुखर त्यौहार को हमने कहां से कहां ला कर खड़ा कर दिया है। कभी होली में रंगों की फुहार से जहां मन की गांठें खुलती थीं, दूरियां मिटती थीं, वहां आज होली के हुड़दंग और गंदे तथा हानिकारक पदार्थों के प्रयोग से डर-सहमे लोगों के मन में होली का वास्तविक अर्थ गुम हो रहा है। अधिकांश लोगों का मन तो उल्लास में होली के इस रंगीले त्यौहार में डूबने और खो जाने को ही करता है।

(31)

आज आदमी का मन बहुत अकेला हो गया है। होली जैसे पर्वों से आपसी सद्भाव कायम किया जा सकता है। अपनी सभी कुंठाओं और पीड़ाओं को भुला देने का यह अच्छा अवसर है। इस दिन तो अमीर और गरीब के बीच भी कहीं कोई अंतर नहीं रहता। सभी प्रेम में मस्त होकर झूमते हैं। यह सामाजिक सौहार्द का एक अनुकरणीय उदाहरण है। वर्ष में कम से कम एक दिन तो ऐसा जरूर है जब सभी अपने गमों को भुला कर हंसी-खुशी और मस्ती में खो जाते हैं। हानिकारक रंगों और गुलाल का खेल अवश्य पागलपन है लेकिन यह भी अनुकरणीय लगता है।

वास्तव में होली के लिये उत्सवनुमा माहौल भी चाहिये और मन भी, एक ऐसा मन जहां हम सब एक हों। अविभक्त मन के इस आइने में प्रतिबिम्बित सभी चेहरे हमें अपने लगाने लगें। होली हमारा सांस्कृतिक पर्व है। आवश्यकता है इसके वास्तविक अर्थ को समझने की।



एक कलाकार की तरह पढ़ना सीखें

पढ़ना एक कला है। यह कला बताती है कि हम कैसे पढ़ें कि विषय की सही समझ पैदा हो सके और इसे हम ठीक-ठीक ढंग से अभिव्यक्त एवं प्रतिपादित कर सकें। विद्यार्थी पढ़ता है तो उसे विषय की समझ होनी चाहिए एवं शिक्षक पढ़ता है तो उसे बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करना आना चाहिए, परंतु पढ़ना तो दोनों को ही पड़ता है। एक को अपनी परीक्षा के लिए पढ़ना पड़ता है तो दूसरे को इसे समझाने के लिए। यह भी आवश्यक है कि पढ़ाई में रुचि पैदा हो, जिससे पढ़ने का कार्य सुचारु रूप से चलता रह सके। रुचि तब पैदा होती है, जब विषय का उद्देश्य एवं औचित्य का ज्ञान हो।

रुचिपूर्वक पढ़ना तभी संभव हो पाता है, जब हमें उस विषय के उद्देश्य का पता हो कि आखिर हम उसे पढ़ क्यों रहे हैं और उस विषय का हमारे जीवन से क्या संबंध है। जब तक यह बात स्पष्ट नहीं हो पाती है कि विषय का औचित्य क्या है और उसकी हमारे निजी जीवन में क्या उपयोगिता एवं आवश्यकता है, तब तक विषय गधे की पीठ पर चंदन की लकड़ी को ढोने के समान भारवत् ही प्रतीत होता है। गधा चंदन को ढोता तो रहता है, परंतु वह उसके महत्व एवं सुगंध से वंचित बना रहता है। ठीक इसी प्रकार हम भी विषय को ढोते रहते हैं, पर हमें यह भी पता नहीं रहता कि जिस कक्षा में हम पढ़ते हैं, उसका पाठ्यक्रम क्या है और क्यों है? सब कुछ एक बोझ-सा, रुचिहीन मालूम पड़ता है, परंतु ठीक इसके विपरीत जब हमें विषय का लाभ एवं उपयोगिता की जानकारी हो जाती है तो रुचि स्वतः पैदा हो जाती है और हमारा मन पढ़ने में रमने लगता है।

पढ़ने के लिए हमें अपनी क्षमताओं का अनुभव होना चाहिए। ये क्षमताएं हैं—(1) आंतरिक क्षमता; (2) सीखने की क्षमता; (3) अभिव्यक्ति की क्षमता; (4) स्मरणशक्ति। आंतरिक क्षमता के अंतर्गत हमारी समझ कितनी है, यह आता है। इसमें यह देखने की बात है कि क्या हमारी क्षमता इतनी है कि हम विषय का निर्वाह कर सकें या उसे समझ सकें। यदि हमारी क्षमता यह नहीं है कि हम गणित को समझ सकें और इसके बावजूद गणित की पढ़ाई करें तो यह विषय हमें कभी समझ में नहीं आएगा; क्योंकि इसके लिये जितनी मानसिक ऊर्जा को इसमें लगाना पड़ेगा, उतनी हम नहीं लगा सकते। यदि हम इसमें अपनी मानसिक ऊर्जा नहीं लगाएंगे तो यह हमारे

सिर के ऊपर से निकल जाएगा। हम गणित की किताब लेकर बैठे रहेंगे, पर पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। शिक्षक पढ़ा कर चला जाएगा, पर हम अपनी ही उधेड़बुन में फंसे रह जाएंगे और कुछ भी समझ नहीं आएगा।

विषय की समझ पैदा करने के लिए आवश्यक है कि हमारी मनःस्थिति उस विषय के साथ संबंधित हो जाए और जैसे ही यह संबंधसूत्र जुड़ने लगता है तो विषय की समझ पैदा होने लगती है। फिर हम विषय की गहराई के साथ-साथ उसके विस्तार एवं व्यापकता को जानने लगते हैं और इसके साथ ही हम एक विषय को अन्य विषयों के साथ जोड़कर देख सकते हैं एवं वह अपने जीवन में कितना उपयोगी एवं आवश्यक है, यह भी समझ सकते हैं। जब यह समझ पैदा हो जाएगी तो हमारे सीखने की क्षमता भी विकसित हो जायगी। इसके बाद हम उस विषय को और अधिक गहराई से सीखने का प्रयास करेंगे।

(32)

सीखने की क्षमता विकसित हो जाने पर हम अपरिचित विषय के साथ भी गहरा तारतम्य जोड़ सकते हैं। यह कला आ जाने से हम अनेक नए विषयों को एक साथ संबंधित करके समझने लगते हैं एवं तुलना कर सकते हैं। इससे हमारा बौद्धिक विकास होता है। विषय की मूल वस्तु एवं मुख्य बिंदुओं का ज्ञान हो जाने से वह विषय समझने एवं सीखने में अत्यंत आसान हो जाता है। इस प्रकार हम उस विषय का बेहतर ढंग से निर्वाह कर सकते हैं। फिर उसे याद करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

याद तो तब करना पड़ता है, जब हमें विषय समझ में नहीं आता है। समझ आ जाए तो विषय स्वतः स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता है। इसलिए उपनिषद् कहता है कि विषय की बेहतर समझ पैदा करो, उसे याद नहीं करो।

सामान्य रूप से विद्यार्थी अपने विषय को विभिन्न प्रकार से याद करता है और अपने दिमाग को उससे संबंधित आंकड़ों से ठूसने-भरने लगता है। एक प्रश्न याद किया, फिर दूसरा, फिर तीसरा, इस प्रकार ढेरों प्रश्न दिमाग में भर दिए जाते हैं। दिमाग प्रश्नों का खजाना बन जाता है, पर परीक्षा के समय यदि किसी प्रश्न का उत्तर याद नहीं आया और इसके परिणामस्वरूप तनाव पैदा हो गया तो फिर स्थिति इतनी विपन्न एवं भीषण हो जाती है कि कहा नहीं जा सकता है। ऐसे में हमारा दिमाग खिचड़ी बन जाता है और प्रश्नों का गलत उत्तर आने लगता है।

दिमाग की एक निश्चित खास बनावट एवं बुनावट होती है। किसी चीज को कैसे याद किया जाए, उसके लिए उसे उस बुनावट के संग तारतम्य रखना पड़ता है।

इस तारतम्य में तब व्यतिक्रम आता है, जब भावनात्मक असंतुलन अपने चरम पर होती है, परंतु अस्थिर अवस्था में यह अत्यंत खतरनाक एवं हानिकारक होती है। ऐसी स्थिति में सोच, समझ, स्मृति एवं अभिव्यक्ति क्षमता तहस-नहस हो जाती है और भारी क्षति होती है एवं कुछ भी याद नहीं रहता, सब कुछ क्षत-विक्षत खंडहर में परिवर्तित हो जाता है। सारी मेहनत, ऊर्जा, समय का फिर कोई मूल्य ही नहीं रह जाता है। अतः हमें भावनात्मक संबंधों को स्थिर बनाए रखना चाहिए, ताकि हमारी ऊर्जा, श्रम एवं समय विषयवस्तु की समझ पैदा करने में नियुक्त हो सके।

विषय की समझ हो और उसमें रुचि पैदा हो जाए तो उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। इस संदर्भ में विद्यार्थी विषय को बेहतर ढंग से प्रस्तुत कर सकता है और शिक्षक उसे प्रतिपादित कर सकता है, अभिव्यक्त कर सकता है। इस प्रकार पढ़ने में रुचि उत्पन्न होती है और हम ढेर सारे विषयों के प्रति आकर्षित होते हैं एवं उसे पढ़ने लगते हैं।

पढ़ना एक कला है। उसका प्रारंभ हमें वहां से करना चाहिए, जहां उसका मूल विषय समाया रहता है, जिसके खोलने से सब कुछ खुलने लगता है।

इस तरह हम सामान्य पढ़ाई को रुचिकर बनाते हुए स्वाध्याय के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, जहां हमारे आंतरिक विकास की संभावनाएं खुल जाती हैं।

- संकलित

यदि तुम वेदों को पढ़ो तो देखोगे कि उसमें—‘नाभयेत्’ ‘अभी’ ! अर्थात् किसी से भी डरना नहीं चाहिए—यह बात बार-बार कथित हुई है। भय दुर्बलता का चिह्न है। और यह दुर्बलता ही मनुष्य को ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग से हटाकर उसे नाना प्रकार के पाप कर्मों की ओर खींच लेती है। इसलिए संसार के उपहास अथवा व्यंग्य की ओर तनिक भी ध्यान न देकर मनुष्य को निर्भय होकर अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए।

-स्वामी विवेकानन्द

विकासवाद की भारतीय अवधारणा

- दिनेश दत्त शर्मा वत्स

आज विज्ञान का युग है। अतः अध्यात्म की व्याख्या भी विज्ञान के सन्दर्भ में ही वांछनीय है इसके अभाव में विज्ञान और अध्यात्म विरोधी प्रतीत होते हैं। यदि हम सावधानी से विचार करेंगे तो पायेंगे कि धर्म और अध्यात्म का सनातन दृष्टिकोण मूलतः विज्ञान सम्मत है। इसको एक उदाहरण द्वारा भली प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि सनातन धर्म का दृष्टिकोण अन्य दृष्टिकोणों की अपेक्षा अधिक विज्ञान सम्मत है। डार्विन का विकासवाद, विज्ञान का ऐसा ही प्रमुख सिद्धान्त है जो सनातन धर्म की मान्यताओं के अतिरिक्त अन्य किसी धार्मिक विचारधारा से सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता है। ईसाई भी इसे बाईबिल के विरुद्ध मानते हैं। विरोध का मुख्य बिन्दु उसकी यह मान्यता है कि मनुष्य जाति का विकास बानर जाति से हुआ है। कुछ भारतीय दार्शनिक और धार्मिक नेता भी अज्ञानवश इसका विरोध करते हैं। वास्तविकता यह है कि ये दोनों परिपूरक दृष्टिकोण हैं।

(33)

सनातन धर्म यह स्पष्ट घोषणा करता है कि धर्म विहीन मनुष्य पशु के समान है क्योंकि अन्य सब वृत्तियां पशु और मनुष्य में एक जैसी हैं। इसलिये ईश्वर को पशुपतिनाथ भी कहा गया है। हमारी जानकारी में इतना स्पष्ट दृष्टिकोण अन्य किसी विचारधारा ने प्रस्तुत नहीं किया है। अध्यात्म चेतना के क्षेत्र में खोज करता है और विज्ञान जड़ता के क्षेत्र में। यदि चेतना के क्षेत्र में पशु और मानव में समानता निर्विरोध स्वीकार की जा सकती है तो क्या कारण है कि जड़ता के क्षेत्र में उसी समानता का विरोध किया जाता है? इसका प्रथम कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पशुवृत्तियां में समानता सामान्य मनुष्य को भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है, शारीरिक समानता के लिये हमें वैज्ञानिकों द्वारा खोजे गए तथ्यों का अनुशीलन करना पड़ता है। बगैर अनुशीलन किये भ्रामक निष्कर्षों पर सामान्य मनुष्य पहुंच जाता है। बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि यदि बानर से ही मनुष्य जाति का विकास हुआ है तो क्या कारण है कि आजकल कोई ऐसा परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। विकासवाद का यह भ्रामक निष्कर्ष विरोध का द्वितीय कारण है। विकासवाद कभी ऐसे परिवर्तनों का समर्थन नहीं करता। यह केवल यह कहता है कि बानर कोटि की कुछ प्रजातियों की शारीरिक संरचना उन तथ्यों की ओर संकेत करती है जिनके कारण परिस्थितिवश लाखों वर्षों में यह जातियां परिवर्तित होती हुई वर्तमान स्वरूप को पहुंच गई हैं। केवल सैकड़ों सालों में ऐसा

परिवर्तन नहीं हुआ है तथा बानर कोटि की भी सब जातियों में यह परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल मात्र एक ही जाति में ऐसा हुआ है, उसे चाहे आप नर का आदि रूप कह लीजिए अथवा बानर का अन्तिम रूप।

वैज्ञानिक उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि, लाखों वर्ष पूर्व प्राप्त जीवाश्रवणों से करते हैं। सनातन धर्म परम्परा भी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि रामायण काल में नर और बानर के मध्यवर्ती एक जाति-आस्तित्व में थी। यह ऋष्यमूक पर्वत किष्किंधा वन में रहती थी। इसके राजा बालि को मारकर श्री राम ने उसके छोटे भाई सुग्रीव को राजा बनाया तथा उस जाति की सहायता से रावण पर विजय प्राप्त की। उसी जाति के महावीर रामभक्त हनुमान को हिन्दू धर्म में देवता की मान्यता प्राप्त है। इस तथ्य के स्पष्ट पौराणिक प्रमाण मिलते हैं कि यह जाति महाभारत काल तक अस्तित्व में थी यद्यपि उस काल में वह विलुप्तता के सन्निकट थी।

सनातन धर्म परम्परा विकासवाद के एक दूसरे पक्ष की ओर भी संकेत सकती है-वह है चेतना का विकास। जिस प्रकार डारविन के विकासवाद में सर्वप्रथम जल जीवों के अन्दर जीवन का प्रमाण मिलता है, उसी प्रकार सनातन धर्म परम्परा के अनुसार चेतना का प्रथम अवतरण मतस्य प्राणी वर्ग में होता है। सनातन धर्म के अनुसार ईश्वर का प्रथम अवतार मतस्य अवतार कहलाता है। डारविन का विकासवाद यह कहता है कि जल प्राणियों के पश्चात् इस प्रकार के जीव विकसित हुए जो जल और थल दोनों में ही विचरण करने में समर्थ थे। कच्छप इसी प्रकार के प्राणी वर्ग का प्रतीक है। कच्छपावतार के पश्चात् ऐसे प्राणी विकसित हुए जो थलचर थे। बाराह अवतार और नृहसिंह अवतार के रूप में होता है। इसी प्रकार अन्य अवतार भी चेतना के क्रमशः विकास के प्रतीक हैं।

अतएव सनातन धर्मावलम्बियों को डारविन के विकासवाद से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह सिद्धान्त तो इस बात का स्पष्ट ठोस प्रमाण है कि सनातन धर्म विज्ञान सम्मत मान्यताओं पर आधारित है। सनातन धर्म शास्त्रों के अनुसार मेरुदण्ड विकास मनुष्य जाति पर ही आकर नहीं समाप्त हो गया है। मनुष्य में भी विकास की अग्रिम सम्भावना निहित है। मनुष्य जीवन का विकास भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए ही प्रयत्न करते रहना नहीं है। उसके शरीर मंत्र में मेरुदण्ड स्थित शक्ति का आदि स्रोत कुण्डलिनी अवस्था में प्रस्तुत पड़ा है। धर्मानुकूल आचरण से कुण्डलिनी विकास की छः स्थितियों को पार करती हुए उत्कर्ष को प्राप्त होती है।



Sister Nivedita: Who Gave Her All to India

- Atam Dev



Sister Nivedita, whose death centenary was observed on the October 13, 2011, was not only a distinguished disciple of Swami Vivekananda but also one who was deeply involved in service of India and its people. She was a social worker, educationist, prolific writer, deeply devoted to the cause of women and a freedom fighter in India's struggle for independence. Swami Vivekananda called her by the name of "Nivedita" as one dedicated to God.

(34)

She was born on October 20, 1867 as Margaret Elizabeth Noble in Ireland. In those days Ireland, like India, was a country fighting for her freedom. Her father Samuel Richmond Noble was a priest and she learnt from him early in life that service to mankind was the true service to God. Samuel was just thirty-four when death claimed his precious life. At the last moment he called his wife and whispered in her ears, "When the call comes from Heaven, let Margaret go. The little one will reveal her talents and do great things."

After death of her father, the family moved to their parental home. The grandparents gave all their affection to their orphan grandchildren yet brought them up under strict discipline. Margaret was educated at a Church boarding school in London. On completion of her studies, she worked as a teacher and later established her own school.

Before she came in contact with Swami Vivekananda, she found interest in Buddhism. In 1895 it was her friend in London who invited her to attend a meeting where Swami Vivekananda was to give a talk on Vedanta. His exposition of Vedanta left an imprint on her mind and heart. She found out that this rare Swamiji with his magnetic personality was none other than Swami Vivekananda who, two years before in 1893, had attended uninvited the Parliament of Religions held at Chicago. His inspiring address at the Parliament had captured millions of American hearts.

She attended many more lectures of Swami Vivekananda. Her inquest mind had many questions whose answers by Swami Vivekananda dispelled her doubts and established deep faith and reverence for him. Thus it was a chance meeting with Swami Vivekananda that changed her life forever.

Swami Vivekananda felt that education was the panacea for all evils plaguing the contemporary Indian society, especially that of Indian women. Seeing Margaret's zeal to serve, Swami Vivekananda invited her to work for uplifting the Indian women. Inspired by the teachings and vision of Vivekananda, Margaret left her family and came to India in January 1898 to lead a very simplistic life. She plunged head on to understand the Indian culture and serve the Indian people. A few weeks later, two of Swami Vivekananda's women disciples in America arrived in India. The three soon became fast friends.

On March 25, 1898, Swami Vivekananda dedicated her to God and to the service of India. He initiated her ceremonially into the order of celibacy and gave her the name of 'Nivedita'. Mother Sarada Devi, wife of Sri Ramakrishna, greeted Nivedita with open arms overcoming barriers of language and culture calling her "khooki" or "baby" in Bengali. This association continued till the death of Mother.

Nivedita started her school in November, 1898 for girls who were deprived of even basic education. Mother Sarada Devi came to inaugurate it. Nivedita wanted to bring about an improvement in the lives of Indian women and put an end to the caste distinctions among various social classes and castes. However, it was difficult to get students for the school. She would often go from door to door to persuade the parents to send their girls to the school. Ultimately, her efforts borne fruit and her school become a success.

It was in March 1899 that a devastating plague broke out in Calcutta and it spread like wild fire all over the city. Nivedita motivated youths, unaccustomed to manual labour, to take up sweeping the streets and cleaning the drains. She formed a committee of social workers in order to fight the plague on a well-organized basis. With her untiring day and night efforts she literally saved hundreds of victims from the very jaws of death, staking her very life in the process.

As Nivedita was feeling funds crunch for her school, she sought the Swamiji's advice to travel abroad to raise funds. On his approval she sailed for Europe in the middle of June 1899. From the Europe she went to America. Her original aim was just to raise enough funds for her small school. However, she found that the urgent task was to educate the Americans about India and her glorious culture as false and malicious propaganda had been carried on against India and her religions by some Christian missionaries who had grown jealous of the tremendous impact of Swami Vivekananda on the west. She utilized her visit to educate the Americans about greatness of India's cultural and spiritual heritage and the true causes of the present degradation. She returned to India in 1901.

After Vivekananda attained *mahasamadhi* in 1902, Sister Nivedita became active in India's independence movement. She was a prolific orator and writer. She traveled extensively to deliver lectures, especially on India's culture and religion. In 1905 when the British Government under Curzon initiated the partition of Bengal, she provided financial and logistical support to the movement. In her efforts to inculcate the nationalist spirit in the minds of her students, she introduced singing of the song *Vande Mātaram* in her school as a prayer.

Lest her political activities may interfere with the work of Ramakrishna Mission, she took a decision to formally disassociate with it. However, she continued to be in touch with disciples of Swami Vivekananda. Her house became a meeting place for writers and politicians. Her circle of friends also included Rabindranath Tagore, Jagadish Chandra Bose, Abala Bose, Abanindranath Tagore and Sri Aurobindo.

She died on October 13, 1911 at the age 43. Born European, she worked all her life for India – her *karmbhumi*. Her epitaph aptly reads: "Here reposes Sister Nivedita who gave her all to India".



"The whole history of the world shows that the Indian intellect is second to none. This must be proved by the performance of a task beyond the power of others, the seizing of the first place in the intellectual advance of the world. Is there any inherent weakness that would make it impossible for us to do this? Are the countrymen of Bhaskaracharya and Shankaracharya inferior to the countrymen of Newton and Darwin? We trust not. It is for us, by the power of our thought, to break down the iron walls of opposition that confront us, and to seize and enjoy the intellectual sovereignty of the world"

Conflict Necessary For Creativity

- Raj Kachroo

When M K Gandhi was thrown out of a train in South Africa he had a choice to make-either to ignore the event and live in peace or enter into a conflict and face harassment, hardship and the possibility of getting physically hurt. He chose the latter. Why? Did he not have a guru who had taught him that living in peace and tranquillity was the ultimate objective of life and the best way to achieve this objective was to avoid situations of conflict? Why did he not walk away?

The Dalai Lama chose to live in exile rather than live in peace in Tibet. He is a spiritual master himself. He preaches peace around the world. Does he not know that living in peace requires avoiding situations of conflict?

Aung San Suu Kyi did not have to stay in jail. Winston Churchill did not have to join the World War. Nelson Mandela did not have to suffer in solitary confinement. Julius Nyerere did not have to fight a war with Idi Amin.

There is a long list of people who have embraced conflict despite standing for peace, otherwise. They had the courage to stand up against repression rather than submit to it.

Both the Ramayana and Mahabharata, revered Indic epics, are stories of war, not peace. Krishna did not tell the Pandavas to ignore the incident of Draupadi's humiliation in court (the Draupadi vastraharan). He encouraged them to go to war. The Gita says engaging in war to uphold truth is not a matter of choice for a warrior; it is his duty. Islam says participation in jihad is the duty of a Muslim when the fight is to uphold justice when challenged by oppression, as a way of self-defence.

Most of us are confused between conflict and the method of resolving a conflict. We assume, incorrectly, that Gandhi, as a peace

loving person, must have avoided situations of conflict. On the other hand, he faced conflict head-on. Bhagat Singh and Gandhi were both gearing themselves to deal with conflict, except that Gandhi tried to employ peaceful means while Bhagat Singh chose aggression.

The duty of a scientist, artist or professor is also to engage in conflict against repressive regimes of knowledge. Any kind of limited knowledge is a form of bondage. Albert Einstein advanced the boundaries of scientific knowledge. James Joyce did the same in the world of literature. He flouted rules of writing as he saw them as restrictions on creativity. Picasso and M F Husain, for example, explored realms beyond accepted rules in visual art. Mother Teresa redefined the concept of caring. Every one of them faced criticism and controversy, yet they remained convinced of the nature of their work and the methods they used to fulfil their vision. They remained engaged.

(36)

One can only conclude from this that the people we admire and even those we worship have all rejected the existing as being adequate and have chosen to engage in conflict to expand the existing. They have redefined the purpose of our life.

The purpose of our life is not to live in passive acceptance but to engage with conflict in order to be creative. Creativity is the purpose of life. The purpose is to advance an individual of life. The purpose is to advance an individual soul and the collective Consciousness. The only word of caution here is that we must first settle ourselves spiritually so that we know whether a conflict is justified or not.

q

That you may catch my fire, that you may be inensely sincere, that you may die the heroe's death on the battle field-is the constant prayer of Vivekananda

Core Values for Public Service

- Satya Pal Singh

Public service is a service to society. It may be localized or globalised. Man is considered to be a social being not an animal, as a few sociologists and anthropologists have tried to paint him to be. Because of his acquired knowledge, skill and attitude, man is certainly a class apart, for which Darwin also got confused in his over-enthusiasm for evolving an all-permeating theory.

Public service is a non-profit activity, catering to the upholding of the principles of equality, unity and justice in the public domain. Generally, all government functionaries are expected to discharge this onerous responsibility. Starting from the village-level (panchayat) functionaries to the Prime Minister (or the President), all are public servants.

The emphasis here is upon those core values, that make a public servant a highly successful and satisfied soul.

- (i) Confidence
- (ii) Commitment and
- (iii) Communication

are the foundations of an elegant public-service mansion.

1. CONFIDENCE : The general public in India is slowly losing confidence in its public services. Public servants are more to be blamed for this state of affairs. Their credibility is deteriorating rapidly. A public servant must be confident himself and he must be able to inspire confidence in his or her working environment.

Public service is a non-profit activity, catering to the upholding of the principles of equality, unity and justice in the public domain.

Only a physically fit, mentally alert and well-trained public servant can possess self-confidence. Outbursts of anger at trivial things are an indication of a weak-mind and lack of confidence.

A pot-bellied police officer or a pan/tobacco chewing and liquor loving public servant not only exhibits the signs of his/her weak personality, but invites jeers from members of public.

Let us take the example of a medical officer. The first and foremost attribute of a good doctor is that he/she should inspire confidence in the minds of the sick as well as his or her attendants. Doctor's message must be as clean and clear as 'Don't worry, you are in the safe hands, your disease is curable. I have magic medicines. My hands are the godly hands. You will be all right within no time. Just believe in God and godly persons like me in front of you.'

With these magic words, mental stress of the patients will vanish. He/She will start experiencing lesser physical pains. Similarly, if a person in distress approaches the police station and if the in-charge police officer is able to inspire same level of confidence in the minds of a complainant, the latter will certainly feel somewhat relieved of his problems. Assurances given by the officer must be translated by a follow up action.

2. COMMITMENT: Commitment means bonding oneself to a particular cause. The marriage to a mission makes one a missionary. The kind of relationship, the bonding, the unflinching faith, an almost unilateral declaration of love that we expect in traditional marriage, is demanded in the same degree by a commitment. Commitment defies difficulties and distractions. Unless we are able to inculcate this kind of commitment in the public services we belong to, in the service of society we come from, and in the laws of the land we are born in, we are not committed.

Any public service in India can boast of having hundreds of competent officers and officials in its different ranks and files. But the department finds it hard to count the number of committed officers. They are few and far between. Our training institutions in the last 50 years or so have not been able to evolve a perfect mechanism by which the mental attitudes of trainees are moulded in the desirable direction. We have number of trainers who are imparting knowledge and skills required by a particular profession. But we are surely not comfortable about the number of competent

(37)

mind-impacting trainers who could induce changes in mental attitudes.

Where there is commitment, competence will follow. A committed public official will pick up the knowledge and skills of a particular job assigned to him or her. The zeal of the mission will subjugate the individual needs and interests to the larger requirements of the service and the community. Where there is commitment, unfair considerations and corruption will not be able to debase the man and rust the system.

The expression of a committed police officer must find a way in taking care of his people, in keeping the place of work clean and tidy, preparing meticulous records and building the bridges with his community. His actions have to speak that he is committed to the protection and encouragement of good people and simultaneously the bad and wicked ones are restrained and repressed.

A medical doctor should be seen not only enquiring about the condition of the patients, but chiding and firing the medical attendants if cleanliness, devotion etc. are lacking.

3. COMMUNICATION: The third core value of genuine public service is the art of communication. This stream of communication has to be continuously flowing. It is not always verbal, requiring a language. All sense organs communicate. Eyes and sense of touch communicate superbly and yet no word is spoken.

One has to talk to oneself-about one's strengths and weaknesses. The confidence and commitment have to go up. Our weaknesses have to be scaled down and ultimately won over. Self-study is the other name of self-communication. Indian wisdom of many centuries has found that in the morning, when one gets up, and in the night, at the time of retiring, one should evaluate himself or herself. The daily self-teaching and training makes one confident and strong enough to overcome the defects and the ill habits.

The secret of effective communication is to get a response and so the language, level and pitch should be at the same wavelength between the sender and receiver. It has to flow both ways-upward

and downward like a free flow of wind depending on the atmospheric pressure.

In a public service like police, if the senior officer wants to be successful, he has to know the problems, potentials and prospects of his juniors. In fact, one should also learn the art of communicating with departmental seniors and public representatives.

Police officers have continuous communication with their customers-especially the complainants. If the police are able to apprise the complainants about the stages of their cases-detection, investigation and trial etc. the complainant will certainly be happy and more satisfied. And a happy and satisfied person will tell nine more persons about the response he got from the police.

(38) There is a historical parable about the foundations of communication. It is said that after carving out an empire and crowning the king Chandragupta, his mentor and famous prime minister Chanakya advised the emperor, "Always remember that crown stays on the speech, not on the head. Take care of your speech. If speech were bad, and arrogant, friends would turn into foes. And with fine speech, the adversaries will slowly and surely turn admirers".

The omniscient God has given us the faculty of speech.

At the end, there should not be any excuse for straying away from either of the three core values, confidence commitment and communication. Generally, we may take shelter under any of the four types of excuses pertaining to (i) '*jati*' or personal status or own community; (ii) *desh* or place and habitation; (iii) *kala* or age of time and finally; to (iv) *samaya* or circumstances (Jatideshkala samaya). Only those public servants who steadfastly oppose and obviate the above four risks come out as shining and successful public figures.

q

Winning Cannot be Made a Habit

- T. G. L. Iyer

It is hard to win always and forever, because rules and regulations are designed to encourage competition.

Winning is hard work. It is never easy or automatic. Winners make mistakes and pass through failures before they win. Winning is punctuated by struggles. Some wins are huge; some are marginal. Failure is a crossroad and not a cliff. Winners make mistakes but manage not to fall off the edge. How problems are dealt with by the winner shapes and decides, whether it is a temporary setback or total disaster.

Remember that it is hard to win always and forever, because rules and regulations are designed to encourage competition. In politics, winning matters most; in sports and athletics wins start from small competitions to climb higher; in studies it is self-discipline and regularity and in life it is hard work combined with luck.

It is not possible to remain at Mount Everest forever; you have to climb down to breathe oxygen and for fresh invigoration. Success has problems because people expect you to succeed every time which is not possible or practicable. Winner's game gets tougher and tougher every time because the winner becomes the target of every opponent.

Success creates imitation and landing of phony products in the market. While in sports and athletics not only failure is not permitted but higher performance is expected.

An uninterrupted cycle of success is no good; responding to adversity sometimes accelerates success. New threats become less threatening. Leaders become stronger as long as they are on the winner's turf.

When winning is taken for granted, members of the winning team feel unrewarded if they win, and get punished if they lose. Every year, the expectation to win, gets higher and higher. An

occasional crisis makes winning less boring. A tight game, a difficult challenge, a loss, can add drama and excitement and gives an opportunity for renewal. What helps a team win repeatedly, what helps a company to succeed even in tough times is the capacity to solve problems, 'put troubles' in perspective and deal with them. This happens at home, place of work and in human relationships.

What helps a team win repeatedly, what helps a company to succeed even in tough times is the capacity to solve problems, 'put troubles' in perspective and deal with them.

Risk is around the corner. Whether it is crossing the road or crossing the green light at a traffic junction or even climbing or getting down the stairs, there is risk involved.

'Kanter's Law' says: "Everything can look like a failure in the middle". Happy endings, victories are accepted; but failures with their explanations are rejected. Remember, that in every walk of life, schedules are upset, teams get tired, projects hit dead ends, people burn out and leave, critics attack and unanticipated obstacles surface.

Sometimes, it is not pressure to win, but panic not to lose. People can make the situation better if they keep their heads. They can search for root causes, dig deeply to analyse factors, test hypotheses about what is going wrong and what lies ahead; scrutinise self-behaviour and modify it and so on.

Panic is the enemy of good decision-making under pressure. In fact, threat creates a fight-flight response even before rational thoughts could be mobilised.

Brain scientists have found out that the body is ready to lash out or run away, before the mind can figure out what to do.

When the leader panics, it percolates down the line. In police, for example, every situation is new and challenging and unless, there is collective consultations and individual decision by the leader, things flop.

(39)

Overcoming obstacles, vaulting over hurdles and recovering from chaos, all require a balanced thinking, a level head and distant foresight. When winners keep their heads under pressure, they are better equipped to recover from fumbling. But, when they become complacent, take winning for granted, begin to believe that they can succeed in untested realms and neglect the foundations supporting them, then winners begin to lose.

Also, remember, that winning ends from threats and panic. One should be on the toes and not on his feet if he wants to act and win.

Sitting on the track without action, there is a possibility of getting run over. We must learn how to handle frustration, how to handle emotional pressure, how to handle complacency and how to accept failures. Think of success as a process, a habit of mind, a strategy for life.

q

Inactivity should be avoided by all means. Activity always means resistance. Resist all evils, mental and physical; and when you have succeeded in resisting, then calmness will come....Plunge into the world and, after a time, when you have suffered and enjoyed all that is in it, renunciation will come and calmness...until you have fulfilled this desire, until you have passed through that activity, it is impossible for you to come to the state of calmness, serenity, and self-surrender. These ideas of serenity and renunciation have been around for thousands of years...yet few have really reached that stage.

- Swami Vivekanand

War and Peace in Relation to Religion

- Ravinder Kumar

Former Vice Chancellor of CCS University Meerut

War and Peace are, in reality, two different situations in which one leads us towards decay and destruction and the other towards welfare. The basis of war is violence while the basis of peace is non-violence. Non-violence is in human nature permanently. It is in itself a religion.

(40)

Violence is the contradictory situation of non-violence. It can never come within the circumference of sanctity. It is because whatever is gained on its basis is not sacred, stable or permanent.

Several instances come before us which reveal that in order to end injustice, when there was no other alternative left except to use violence, it was resorted to. In other words, violence was used as the alternative or means. By using this, triumph was achieved. But definitely we shall have to agree that even then it was not within the domain of sanctity.

Hindus have two great ideals. These are Lord Rama and Lord Krishna. In the times of both of them terrible and fiercest wars were fought. Rama fought with Ravana, king of Lanka. It was in the nature of a world war. Numerous lives were lost and property damaged. Rama was fighting for justice. Before indulging in the war, he adopted various non-violent measures to avoid violence. But when there was no alternative, within the sphere of non-violence, he had to resort to violence.

Non-violence is permanently in human nature; ultimately he realises it. And it is the only reason that after violence, a time certainly comes when human heart spontaneously speaks, 'Had God willed otherwise' or 'Had it never occurred'.

He became victorious. But as a human being, he also imbibed in him the remnants of pain for countless people killed in the fiercest battle, subsisted in his heart. We can realise this pain in Rama, after the war, in his following request to Indra:

*"Sunu Surupati Kapi Bhaloo Hamare,
Pare Bhoomi Nisicharanahi Je Mare,
Mam Hita Lagi Taje Inha Prana,
Sakal Jiao Sures Sujana"*

Meaning thereby;

"Listen O king of heaven! Our monkeys and bears are lying there on the ground. They have laid their lives...., restore them all to life, wise Lord of gods!"

During Lord Krishna's time *Mahabharata* was fought like world war. Krishna was guiding the side indulged in war for justice. There is mention in it that '*Non-violence is religion in grandeur*'. Lord Krishna himself stated that even if any one non-violent way was available... "we should give up violence and adopt the non-violent way".

But in order to wipe off injustice, there was no other alternative left except a recourse to violence. Consequently, the battle of *Mahabharata*. Hundreds of thousands of people were killed; dreadful destruction was displayed. Lord Krishna's side became victorious. But he never hailed the terrible consequences that ensued in the wake of war. '*Had God willed otherwise*', it was the call from the core of his heart.

Likewise, there are several examples, not only in the Hindu community but also in other religious communities. Non-violence is permanently in human nature; ultimately he realises it. And it is the only reason that after violence, a time comes when human heart spontaneously speaks, '*Had God willed otherwise*' or '*Had it never occurred*.'

(41)

History is full of numerous instances. Ashoka fought the war with the king of Kalinga. About one hundred thousand people were killed. Far more people were injured and one hundred fifty thousand were taken prisoners. Ashoka became victorious.

But soon he realised the futility of violence. He felt deep sorrow at the violence. He followed the way of compassion. Although he had recourse to the path of compassion, the high empire set up by him was founded on the basis of violence. His empire did not last long.

Why only about Ashoka, how far the big empires extended following a war, could continue to remain in permanent existence? So, violence can never come within the sphere of sanctity. Whatever is achieved on its strength, can never remain stable.

Everything achieved through non-violence is abiding, permanent and sacred. Man realised it when he was tempted to the safety of his existence, although it was already in his nature from his every origin. Thus it was the only first religion for the surety of life, the realisation of non-violence and thereafter its continuous development was the greatest need.

That is why, all religions gave foremost place to it in their values. None of the prophets, propounders or saints made its importance less. It is very essential for the achievement of peace. And peace is the aim of human life. It is only in it that progress is possible.

Let us keep aloof from violence, the basis of war, and give preference to the non-violence - the basis of peace.



Have charity towards all beings. Pity those who are in distress. Love all creatures. Do not be jealous of anyone. Look not to the faults of others.

- Swami Vivekanand

Are You Really Listening?

- Elizabeth Scott

Being sensitive to other's people's problems is not easy; neither is making friends an instant coffee! Both take loads of time and patience. But an excellent way to win friends forever is to listen to them, their views and issues genuinely, to show that you really care. Read on these interesting notes by Elizabeth Scott.

We were given two ears but only one mouth. This is because God knew that listening was twice as hard as talking.

When you're feeling stressed or had a particularly difficult day, the ear of a supportive friend can be a lifeline to peace. A genuinely good listener is actually more rare than one would think, and also more valuable. We often take listening for granted, never realising what it means to really listen to a friend. Learn how to be a truly supportive listener, and you may find yourself surrounded by others who are able to do the same. Pick up a few tips to become a good listener. You can grow more friends with your ears and eyes than with your mouth.

Listen, Listen, Listen

Ask your friend what's wrong, and really listen to the answer. Let them vent their fears and frustrations; maintain a regular eye contact with them and show you're interested in what they have to say. Resist the urge to give advice and just let them get it out.

Reframe What You Hear

Summarise what they said, so they know you're hearing them, and focus on the emotions they might be feeling. For example, if your friend talks about family problems, you might find yourself saying, "It looks like things are getting pretty hostile. You sound like you're feelings hurt."

Ask About Feelings

Asking about their feelings provides a good emotional release and might be more helpful than just focusing on the facts of their situation.

Keep the Focus on Them

Rather than delving into a related story of your own, keep the focus on them until they feel better. They will appreciate the attention and will feel genuinely cared for and understood.

Help Brainstorm

Rather than giving advice in the beginning, which cuts off further exploration of feelings and other communication, wait until they've gotten their feelings out and then help them brainstorm solutions. If you help them come up with the pros and cons of each, they're likely to come up with a solution they feel good about.

Stay Present

Sometimes people feign listening, but they're really just waiting for their friend to stop talking so they can say whatever they've been mentally rehearsing while they've been pretending to listen. People can usually sense this, and it doesn't feel good. Also, they tend to miss what's being said because they're not focussed.

Don't Give Advice

It's common to want to immediately give advice and 'fix' your friend's problem. Don't! While you are trying to help, what would work for you might not work for your friend; also, advice can feel condescending. Unless they ask directly for advice, your friend probably just wants to feel heard and understood, and then can find his or her own solutions.

Trust the Process

It might feel a little scary to listen to feelings before diving into solutions, and hearing your friend talk about upset feelings might even make you feel helpless. But usually offering a supportive ear and sitting with your friend in a comfortable place is the most helpful

(42)

thing you can do, and once the feelings are cleared out, the solutions can start coming.

Let Things Even Out Over Time

With all this focus on your friend's problems, it might be difficult not to focus equal time on your own. Relax in the knowledge that when you need a friend, your friend will likely be a better listener for you. If you're consistently doing all the giving, you can re-evaluate the dynamics of the relationship. But being a good listener can make you a stronger, more caring person and bring a more supportive angle to your relationships.

Listening to and acknowledging other people may seem deceptively simple, but doing it well, particularly when disagreements arise, takes true talent. As with any skill, listening well takes plenty of practice. "I think one lesson I have learned is that there is no substitute for paying attention.", says Dina Samuel, a psychologist. The ability to listen is a skill that can be improved with use. This skill can and will improve all your relationships with friends, mates, partners, children, and co-workers even your boss!

q

Religion is the idea which is raising the brute unto a man, and man unto God.

You cannot believe in God until you believe in yourself.

- Swami Vivekanand

Count your Blessings, There are so Many

- Madhu Chandra

Life is indeed very precious. Too many people make the mistake of judging life by its length rather than by its depth, or by its problems than its promises. If we remember that each moment happens only once and cannot be retrieved, we would cherish every minute of it.

Happiness isn't about what happens to us, it is about how we perceive what happens to us. It is the knack of finding a positive for every negative, and viewing a setback as a challenge. If we cannot stop wishing for what we don't have and start enjoying what we do have, our lives can be richer, more fulfilled and happier. The time to be happy is now.

(43)

Here is what a cancer patient wrote. "My first question on learning that I had cancer was, "Why did this happen to me? What did I ever do to deserve this?" For these questions there were no answers. And then I realised these questions were getting me nowhere. So, I decided to change my outlook and make cancer give me more than it can take away. It made me strong beyond my years and tolerant of many acts in life, especially those which usually elicit anger. I learned to enjoy, respect, achieve, console, know great fulfilment and gain really important in life".

Life is indeed very precious. Too many people make the mistake of judging life by its length rather than by its depth, or by its problems than its promises. If we remember that each moment cannot be retrieved, we would cherish every minute of it. We no doubt cannot determine our fate but we can choose and act to make it the best or worst.

We should ask ourselves after every setback-what did I learn from this experience? Only then will we be able to turn the stumbling block into a stepping stone. Life's battles don't always go to the stronger and faster man; sooner or later the man who wins is the

man who thinks he can. GIGO is a computer term meaning-'Garbage in Garbage out.' It is a good idea to read this as 'Good Ideas in Good Ideas Out' for our life is what our thoughts make of it.

Our minds are thought factories and can manufacture either positive or negative thoughts. We have to choose. Those who want to be happy should train their minds to create happy thoughts. All crises can be overcome by being mentally prepared-including death. When we think positive thoughts many things will happen on their own. Thus, very frequently during the day count your blessings, which you will find are plenty. Remind yourself you are lucky that you don't have a serious illness. If you do, then remind yourself that you have the privilege to go to a good hospital. The idea is to be full of positive thoughts, even when you are going through a bad patch.

So, when you up tomorrow, realise that it is the best day of your life it is the best day of your life ever. Celebrate the unbelievable life you've had so far the accomplishments, the many blessings and even hardships that made you stronger. Marvel at God's seemingly simple gifts: the sun, the clouds, the flowers, the birds. See the miracle in them. Share your excitement for life with other people, make someone how special he or she is. Remind yourself that worrying is a waste of time because God and his divine plan ensure everything will be just fine. At the end of the day don't forget to thank the Almighty that it was the best day of your life.

Then, sleep like a child because you know tomorrow is going to be the best day of your life ever!



That man has reached immortality who is disturbed by nothing material.

Everything can be sacrificed for truth, but truth cannot be sacrificed for anything.

- Swami Vivekanand

The Essence of Spirituality - Service of Others

- His Holiness Pujya Swami Chidanand Saraswatiji

President and Spiritual Head, Parmarth Niketan, Rishikesh (Himalayas)

Spirituality is the essence of life. It is the light that shines on our lives, illuminating our paths, bringing light to the darkness, joy to the sorrow, and meaning to the incomprehensible. And the essence of Spirituality? The essence of spirituality is service. As one goes deeper and deeper on a spiritual path and as one gets closer and closer to Realization and Enlightenment, one realizes that the Divine resides in all. One begins to see God's presence in every person, every animal and every plant.

The first line in the Ishopanishad says:

(44)

*Isha vaasyamidam sarvam
yat kinchit jagatyaam jagat
Tena tyaktena bhunjeethaa
Maa gradhah kasyasvid dhanam*

This mantra tells us that God is manifest in everything in the universe. All is Him, and all is pervaded by Him. There is nothing which is not God.

Thus, when one realizes this Truth deep in one's heart, one becomes filled with an insatiable desire to care for and serve all of God's creation. Typically, we sit in our mandir and ever-so-carefully bathe the deity of God. We gingerly and lovingly perform the abhishek ceremony, caressing His body lovingly with sandalwood and rose water, and adorning Him in the finest clothes. We offer food to Him before we eat; we distribute the sweetest sweets as Prasad and we offer our hard earned money as "daan."

However, as one's spiritual path deepens and as one gets closer to the state of God Realization, one sees God's form in everything. Thus, the feelings of care, love, sacrifice and devotion which we feel for the deity in the temple begin to blossom in our heart for all of creation.

Every widow, every orphan, every homeless leper, every wandering, malnourished animal, every deforested piece of land,

every polluted river becomes as precious as the marble image of Shiva or Krishna or Durga in our mandir. Thus, from our hearts we are called to do as much as we can to remedy the world's tragic situation.

Many people think a spiritual life means that one retreats to the mountains, performs meditations and then lives peacefully forever in one's own enlightened cocoon. However, that is not true, deep spirituality. That is not the essence of enlightenment. Yes, solitude, silence and intense sadhana are crucial in order to establish the connection with God, in order to make the leap from a material life to a spiritual life. It is difficult, initially, to connect deeply with God while one stands in line at the supermarket or while one is stuck in traffic on the road to home from work. Thus, in the beginning, one must retrest temporarily. This lays the ground work. It is like wiring a house for electricity. In the beginning, when the house is being built, one must carefully lay all of the wires. Much time is spent on this initial electrical wiring. However, once the lines have been laid, once the electrification work is complete, then one simply has to plug the cord into the socket and the lamp immediately illuminates! One does not have to re-wire the house each time!

The same is true on a spiritual path. Yes, solitude, silence and extensive sadhana are required, as a parallel to laying the electrical wires. But, once the deep connection with the Divine Powerhouse is established, one simply has to choose one's eyes and one connects with God.

Look at Lord Budda-he left the world in order to go into the forest and practice meditation. But once he attained enlightenment under the Boddhi tree, he did not stay in the forest, revelling in his own enlightenment. Rather, he returned to the world to spread the message, to spread the light, to spread compassion, to serve the needy. He had attained Enlightenment and once having attained the Enlightened state, he was able to see the Divine in all. Thus he dedicated his life to spreading light, wisdom and compassion to all. Look at Ramakrishna Paramhansa, one of the greatest saints in history. He used to bow down in pranam to prostitutes and worship them as the Divine Mother. He lay in the grass and talked to the snakes and the rabbits. He saw the Divine just as clearly in the impure prostitutes as in the image of Kali in the temple!

In the Bhagavad Gita, Bhagwan Krishna says, "I am the Self, O Gudakesha, seated in the hearts of all beings; I am the Beginning, the Middle and also the End of all beings." When we embark on a spiritual path, or as we walk the path, we must dedicate ourselves to cultivating the divine vision and awareness with which we can see the Divine in all.

Once we see every being as Divine, we cannot walk by someone who is suffering without helping them. We cannot sleep at night unless we have done our best to lessen the pain of our fellow beings, just as we could not sleep if we neglected to perform the aarti in the mandir or if we forgot to offer food to the deity of Krishna Bhagwan. We cannot see sick, starving animals wandering on the road or watch toxic chemicals dumped into our precious rivers, any more than we could tolerate watching someone toss a Shiva Linga onto the pavement.

So, ultimately, if the spiritual path is true, it culminates in an insatiable urge to serve all, to help all, to give to all, to live for all.

(45)

This does not mean that one forgets one's personal meditation or japa, put the two go hand in hand. There is a beautiful line in our prayers that says, "Mukha mein ho Rama Nama, Rama seva haath mein." Our lips keep chanting His name, and our hands keep doing His work.

Also, it is important to note that "service of all" can take a variety of forms. For some, it may take the form of working hard at their profession every day and donating their income to humanitarian causes. For others, it may take the form of founding organizations or foundations which directly work to alleviate various aspects of suffering. For some, it may take the form of giving lectures or writing books on spirituality which bring inspiration and upliftment to the masses. For some, it may take the form of being a spiritual guide or Guru who brings the light of awareness to all of his/her devotees. The possibilities are endless. But the central core is the same-all of these people have a deep realization that all beings are Divine and that God resides in all. And once one has this realization, one feels unity with all creatures and beings on the planet; thus one hears the internal call to help and serve in whatever way possible. □

इस अंक में.....

अपनी बात		1
Editor's Reflections		4
Holy Wisdom		8
स्वामी विवेकानन्द और हम	सुरेन्द्र कुमार वधवा	9
भारतीय संस्कृति की रक्षा के हेतु नारी को लज्जा विहीन न किया जाए		11
Commemorate 150th Birth Anniversary of Swami Vivekananda in a Befitting Manner	Justice M. Rama Jois	12
Hold on Yet a While, Brave Heart	Swami Vivekanand	15
हे अमेरिका की स्त्रियों वह माता कहां है?-विवेकानन्द	डॉ. श्रीमती अजित गुप्ता	16
स्वामी विवेकानन्द का अध्यात्म और अद्वैतवाद	डॉ. बसन्ती हर्ष	20
युवा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द	तरुण काँति बसु	25
Of Doubters, Believers and Atheists	Om Prakash Sharma	28
Vivekanand's Rama The Ideal Human	Sucharita Dey	33
नेताजी सुभाष चन्द्र बसु	शशांक शेखर बसु	38
हिन्दू संस्कृति	महेश चन्द्र शर्मा	40

(46)

बढ़ती जनसंख्या की दुश्वारियां और निदान	ऋतु सारस्वत	42
सुप्रीम कोर्ट और जनहित याचिकाएं	संकलित	46
वैदिक जीवन दृष्टि	डा. प्रकाशवती शर्मा	48
उदात्त जीवन का आधार: संस्कार	डॉ. धर्मवीर सेठी	55
भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति मदनमोहन मालवीय	कमल मालवीय	59
जीवन में मोहक रंग भरती होली	ललित गर्ग	62
एक कलाकार की तरह पढ़ना सीखें	संकलित	63
विकासवाद की भारतीय अवधारणा	दिनेश दत्त शर्मा वत्स	66
Sister Nivedita : Who Gave Her All to India	Atam Dev	68
Conflict Necessary for Creativity	Raj Kachroo	71
Core Values for Public Service	Satya Pal Singh	73
Winning Cannot be Made a Habit	T. G. L. Iyer	77
War and Peace in Relation to Religion	Ravinder Kumar	80
Are You Really Listening	Elizabeth Scott	83
Count your Blessings, There are so Many	Madhu Chandra	86
The Essence of Spirituality Service of Others	Swami Chidanand	88

फार्म नं. 4

नियम संख्या 8

ज्ञान प्रभा (त्रैमासिक) के स्वामित्व और अन्य विवरण जो केन्द्रीय धारा 1956 के अन्तर्गत समाचार पत्रों के पंजीयन के लिए प्रकाशित करना आवश्यक है।

1. प्रकाशन स्थान - पीतमपुरा, दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि - त्रैमासिक
3. मुद्रक का नाम - पुनीत जैन
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - वीतराग प्रिन्टर्स,
1318, गली गुलियान
दरीबा कलां, दिल्ली-110006
4. प्रकाशक - ईश्वर दत्त ओझा
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - भारत विकास परिषद् प्रकाशन,
बी डी ब्लॉक, पीतमपुरा,
पावर हाउस के पीछे, दिल्ली-110034
5. प्र.स. का नाम (अवैतनिक) - सुरेश चंद्र
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - भारत विकास परिषद् प्रकाशन,
बी डी ब्लॉक, पीतमपुरा,
पावर हाउस के पीछे, दिल्ली-110034

(47)

मैं ईश्वर दत्त ओझा एतद् द्वारा यह घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार दिया गया उक्त विवरण सत्य है।

दिनांक 12 मार्च, 2012

प्रकाशक ह. ईश्वर दत्त ओझा